तीसरी सहस्राब्दी में भारतीय सभ्यता के पुरुषार्थ : रक्षण, पुनर्नवीनीकरण और विकास की नई दिशाएँ

पता नहीं इस व्याख्यान के शीर्षक ने आपको चौंकाया कि नहीं। मैं जरूर चौंक गया था, हालांकि जब मुझसे इस व्याख्यानमाला में व्याख्यान देने को कहा गया तो मैंने खुद यह शीर्षक सुझाया था। सच कहूँ तो इस व्याख्यानमाला को जो नाम दिया गया है—'अन्तराल' उसी पर से मेरे दिमाग में यह शीर्षक कौंध गया था। उस पर निगाह पड़ते ही प्रश्न उठा—अन्तराल किसके-किसके बीच? स्पष्ट ही, व्याख्यानमाला के इस नामकरण के पीछे यही तथ्य रहा होगा कि हम लोग जल्द ही बीसवीं सदी को लांघकर इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करने वाले हैं—यदि हम इस ईसाई काल गणना को अपनी भी बात मान लें, तो। मगर, हम सिर्फ़, एक नयी शताब्दी में ही नहीं, एक नयी सहस्राब्दी में भी प्रवेश करने जा रहे हैं : ईसा के बाद की तीसरी सहस्राब्दी में, भले, यह सच है, कि हममें से शायद ही कोई सहस्राब्दियों के हिसाब से सोचता होगा। आमतौर पर हम लोग अगले कुछ वर्षों या एक दशक के हिसाब से ही अपनी योजनाएँ बनाया करते हैं। शताब्दियों की शब्दावली में सोचना भी विरल है, सहस्राब्दियों की कौन कहे! हाँ, यदि हम सभ्यताओं और सभ्यतागत पुरुषार्थों की बात करते हैं तो सहस्राब्दियों में सोचना इतना अजीब नहीं लगेगा—कम से कम उन सभ्यताओं के सदस्यों को तो बिल्कुल नहीं जिनके पास अनेक सहस्राब्दियों का अनवरत और बाकायदा दर्ज किया गया इतिहास रहा है। और, भारतीय सभ्यता के पास तो कम से कम पाँच सहस्राब्दियों के प्रमाणपुष्ट इतिहास की धरोहर है। इसलिए, किसी सभ्यता को लेकर सहस्राब्दियों की शब्दावली में सोचना इतना अजीब नहीं है जितना पहली बार देखने पर लग सकता है। यहाँ इस कमरे में हम सभी लोग भारतीय हैं, कम से कम, ज्यादातर लोग तो हैं ही; और जब हम स्वयं को भारतीय कहते हैं तो इसका मतलब यही होता है कि हमें सुदूर अतीत में गड़ी हुई अपनी जड़ों का अहसास है—जड़ें, जो ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व के आस-पास विद्यमान हड़प्पा सभ्यता तक फैली हुई हैं। भारतीय होना इस तरह इस सुदूर अतीत द्वारा संरचित होना है। अपनी बनावट की इस हकीकत की हमें न केवल पूरी समझ, हालांकि धुंधली

चेतना होती है, बल्कि हम सभी को भविष्य में भी निरन्तर बनाए रखने की जिम्मेदारी का अहसास भी होता है। मगर क्यों? अपनी पहचान की रक्षा या नैरन्तर्य की यह चिन्ता हमें क्यों सताती है? क्या इसलिए, कि हमें कोई खतरा भविष्य में इसके ऊपर—यानी इसके बचे रहने पर—मंडराता दिखाई दे रहा है? हम क्यों पुनर्नवीकरण की और विकास की नयी दिशाओं की बात कर रहे हैं?

इस तरह का प्रश्न पूछने का अर्थ है एक ऐसी समस्या को उठाना जो हमारे समय की सबसे दुर्दान्त और विकट समस्याओं में से एक है। यदि हम कहीं अन्यत्र जन्मे होते—अमेरिका में या किसी भी पश्चिम यूरोपीय देश में, तो यह प्रश्न बिल्कुल नहीं उठता। तब हम अपनी सभ्यता के भविष्य के बारे में एकदम निश्चिंत और आश्वस्त होते। किन्तु यदि हम चीनी होते, या पश्चिमी एशिया या इस्लामी सभ्यता से जुड़े होते, तब भी कदाचित् हमारे भीतर अपनी उस सभ्यता के भविष्य को लेकर, जिसने हमें जैसे भी हैं वैसा बनाया है—उसी तरह की शंकायें और उलझनें खड़ी हो जातीं। सारी अ-पाश्चात्य सभ्यताएँ आज संकट में पड़ी प्रजातियाँ हैं : वर्तमान भूमण्डलीकरण के चलते और विश्व के समस्त दूसरे मानव समुदायों के ऊपर इन पाश्चात्य प्रजातियों के एकछत्र वर्चस्व के चलते, पृथ्वी का बहुत बड़ा हिस्सा पश्चिम के द्वारा पराजित और उपनिवेशीकृत हुआ, जिसके फलस्वरूप विगत कुछ ही शताब्दियों के भीतर उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया और अन्य देशों के आदिवासियों का बहुलांश एकदम विलुप्त हो चुका है।

इतना ही नहीं, बची-खुची अन्य सभ्यताओं के भी जीवित सदस्य, विशेषत: उनके प्रबुद्धजन अपनी लम्बी औपनिवेशिक तथा अर्द्ध-औपनिवेशिक दासता के दौरान एक बाहर से आरोपित शिक्षा पद्धति में ढलकर इस कदर रूपान्तरित और इस कदर स्मृतिभ्रंश के शिकार हो चुके हैं कि अब वे दुनिया को अपनी सभ्यता और संस्कृति की आँखों से नहीं, पश्चिमी दृष्टि और पश्चिमी परिप्रेक्ष्य में ही देख पाते हैं। प्राचीनतर सभ्यताओं को भी साथ लपेटते हुए समूची पृथ्वी का इतिहास कुछ इस तरह लिखा गया है कि पढ़ने वाले पर यही छाप पड़े कि पाश्चात्य सभ्यता उन सभी को लांघकर अपदस्थ कर चुकी है और अब वह मानव मात्र के भविष्य का एकमात्र सच्चा प्रतिनिधित्व करने वाली सभ्यता के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है—उन सबके लिए जो ऐतिहासिक कारणों से पिछड़ गये हैं। लगभग सभी ने मनुष्य के अतीत को देखने-समझने की इस 'ऐतिहासिक' पद्धति को जाने-अनजाने पूरी तरह आत्मसात् कर लिया है। मात्र एक उदाहरण पर्याप्त होगा। कार्ल सैगन की प्रसद्धि पुस्तक **दि एसेण्ट ऑव मैन** में एक भी ऐसे गैर-पश्चिमी व्यक्ति का जिक्र नहीं मिलेगा जिसने सुदीर्घ कालावधियों के दौरान मनुष्य जाति द्वारा तय की गयी इस कठिन चढ़ाई के ज़बर्दस्त अभियान में रंचमात्र भी योगदान किया हो अथवा मामूली से मामूली भूमिका भी निभायी हो। किताब, बेशक, ज़ोरदार है, मगर बुनियादी तौर पर यह मनुष्य के नहीं, पाश्चात्य मनुष्य के सभ्यता-शिखर पर

आरोहण के अभियान की कथा है, जो जानते-बूझते मानव-जाति की इस साझा उपलब्धि में समस्त अन्य सभ्यताओं के अकाट्य योगदान को नजरअंदाज करती है : इस तथ्य को सर्वथा विस्मृत करते हुए कि समूची मानवजाति, जिस दिन से वह इस छोटे से ग्रह पर अवतरित हुई, तभी से, सभ्यता के इस अभियान में जुटी रही है। इसी प्रवृत्ति का एक दूसरा उदाहरण, अभी हाल ही में सन्-संवत् लिखने का ढर्रा जिस तरह चुपचाप बदल दिया गया है, उसमें दिखाई देता है। ए.डी. (यानी ईसा के बाद) को अब 'सी.ई.' यानी 'कॉमन एरा' (सबका काल निर्णय) से विस्थापित कर दिया गया है, मानो सारी मानव-जाति इस बात पर सहमत हो चुकी है कि यही सबका सर्वनिष्ठ और सर्वाश्लेषी 'काल' है। उदाहरण तो इसके अलावा भी ढेरों गिना दिये जा सकते हैं किन्तु इस प्रलोभन में पड़ने से कोई लाभ न होगा। फिर, यह इस व्याख्यान का मुख्य उद्देश्य भी नहीं है। निस्संदेह जिस परिस्थिति में हम डाल दिये गये हैं उसके प्रति जागरूक होना पड़ेगा ताकि हम अपनी सभ्यता के अतीत और वर्तमान का इकट्ठा एक साथ साक्षात्कार और मनन कर सकें और उसे सार्थक ढंग से वर्तमान के साथ जोड़ सकें।

बहरहाल, कथा कहाँ से आरम्भ करें? पाश्चात्य इतिहासकार—या कहें, चीजों को देखने के पश्चिमी नजरिये में दीक्षित इतिहासकार—पहले ही तय कर चुका है कि आर्य लोग कहीं बाहर से आये और अपनी पूर्ववर्ती हड़प्पा सभ्यता को ध्वस्त करने की भूमिका उन्होंने अदा की। और, हालांकि हम इस देश में रहने वाले अधिकांश लोग अपने अतीत को उसकी वैदिक जड़ों तक आसानी से पहचानते और स्वीकारते हैं, हमें हड़प्पाकालीन सभ्यता के साथ उसके जुड़ाव के बारे में कुछ खास मालूम नहीं है। हड़प्पा सभ्यता के साथ उस सभ्यता का जिसे हम भारतीय सभ्यता कहते-मानते हैं, का जो भी रिश्ता है वह हमारे लिए बहुत करके अटकलबाजी का ही विषय है; सहज विश्वास या जानकार लगाव का नहीं। तथापि, धीरे-धीरे इस अतीत की इण्डो-यूरोपीय विद्वानों द्वारा पेश की गयी तस्वीर बदल रही है। आज कोई भी गम्भीरतापूर्वक 'हमलावर आर्यों' वाली थियरी को नहीं मानता। यद्यपि आर्य बाहर से भारत में आये हैं—यह धारणा अभी भी सामान्यतया स्वीकार की जाती है; जबकि इस बात के पुष्ट प्रमाण आये दिन उपलब्ध होते रहते हैं कि जिस सरस्वती नदी की वेदों में इतनी जीवन्त भूमिका दिखायी देती है उसका हड़प्पा सभ्यता के विकास में भी उतना ही आधारभूत योगदान रहा था। सरस्वती के सूख जाने की भौगोलिक घटना उत्तर-हड़प्पाकालीन सभ्यता में प्रकट होने वाले परिवर्तनों का मूल कारण थी—ऐसा माना जाने लगा है। किन्तु यद्यपि सरस्वती नदी वैदिक वाङ्मय में वर्णित लोगों के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी जुटाती है, दोनों के बीच के सम्बन्धों पर निर्णायक रोशनी पड़नी अभी बाकी है।

वास्तव में जो विकट गुत्थियाँ अपनी सभ्यता के गहनतम स्रोतों तक जाने के रास्ते में हमारे आड़े आती हैं, वे इस तथ्य से जुड़ी हैं कि एक ओर जहाँ

विस्मयकारी पुरातात्त्विक प्रमाण हमने खोज निकाले हैं, वहाँ दूसरी ओर हम भाषा (सिन्धु घाटी सभ्यता की लिपि) की गुत्थी नहीं सुलझा पाये हैं। और इस कारण, हमारी विडम्बना यह है कि, बहुत कुछ जानते हुए भी हम निश्चयपूर्वक कुछ नहीं जानते। दूसरी तरफ जहाँ हमारे पास वेदों के प्रामाणिक पाठ तीन हज़ार बरसों से सुरक्षित और उपलब्ध हैं और उनके भाष्य और व्याख्या की भी उतनी ही लम्बी परम्परा है, इस ठोस साहित्यिक प्रमाण को पुष्ट करने के लिए आवश्यक पुरातात्त्विक सामग्री बहुत कम है। हो सकता है किसी दिन दोनों के बीच का रिश्ता न केवल प्रमाणित हो जाये बल्कि एक अविच्छिन्न प्रवाह में उनकी सुसम्बद्धता भी उजागर हो जाये। किन्तु वह घटना भविष्य के गर्भ में ही है।

तथापि जो कुछ भी थोड़ी-बहुत जानकारी हमें उक्त प्रमाणों की है, वह चकित कर देने वाली है। हड़प्पा सभ्यता का विस्तार एवं व्याप्ति ही कल्पनातीत ढंग से चमत्कृत कर देने वाली है, और उसकी गुणवत्ता और समृद्धि अविश्वसनीय। मेसोपोटामिया के साथ उसके सामुद्रिक व्यापारिक सम्बन्धों का प्रमाण साफ जताता है कि इस अनोखी सभ्यता ने परिवहन, संगठन, लेखा-जोखा, मालगोदामों तथा अन्य आवश्यक संसाधनों और प्रणालियों का कैसा व्यवहारदक्ष तन्तुजाल विकसित कर डाला था जिसके बगैर इस तरह के क्रिया-कलाप किसी भी सभ्यता के लिए सम्भव ही नहीं हो सकते। दूसरी ओर वैदिक वाङ्मय न केवल प्रकृति और उसके साथ मनुष्य के सम्बन्ध में गहन-गम्भीर चिन्तन-मनन का प्रमाण प्रस्तुत करता है, बल्कि ऐसे खगोलीय पर्यवेक्षणों का भी जो बगैर सूक्ष्म निरीक्षणात्मक ज्ञान के और बगैर बिल्कुल अलग प्रकार की सामर्थ्य की अपेक्षा रखने वाली गणितीय कलनाओं के, सम्भव ही नहीं हो सकते थे। अलावा इसके, वैदिक ऋषि कविकर्म को लेकर भी बड़ी सजग स्व-चेतना का प्रमाण देते हैं जिसके माध्यम से ही उनकी जिज्ञासाएँ, अन्तर्दृष्टियाँ और पर्यवेक्षण रूपायित हो पाते हैं। वैदिक अनुष्ठान या वैदिक यज्ञ के बारे में भी खासा विमर्श हुआ है। किन्तु उसमें प्राय: यह बात भुला दी जाती है कि यज्ञ सम्पन्न करने के लिए जो वेदी आवश्यक थी उसका निर्माण बड़ी जटिल ज्यामितिक जानकारी की अपेक्षा रखता था और साथ ही यज्ञ के लिए उचित मुहूर्त चुनने के लिए आवश्यक नक्षत्रों की गति-विधि का परिज्ञान भी। इतना ही नहीं, वैदिक वाङ्मय की प्राचीनतम ऋचाएँ अनुष्ठानों के अर्थ को लेकर, जो यज्ञ सम्पन्न किया जाना है उसके यथातथ्य अभिप्राय को लेकर भी भरपूर चिन्तन-मनन का प्रमाण देती हैं। प्राचीनतम ब्राह्मण ग्रन्थों में से एक में याज्ञवल्क्य से एक विचित्र प्रश्न किया गया है कि उस परिस्थिति में जब यज्ञ में आहुति देने के लिए कोई सामग्री उपलब्ध न हो तो क्या करना उचित होगा? याज्ञवल्क्य का उत्तर प्रश्न से भी अधिक अद्भुत है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि कुछ भी देने को नहीं है, तो सत्य की ही आहुति श्रद्धा की अग्नि में दी जानी चाहिए। कितनी विचित्र लगती है यह बात—दुरूह पहेली सरीखी! तनिक कल्पना कीजिए कि कोई मनीषी हमें सत्य का बलिदान करने को कह रहा है। क्या मतलब

हो सकता है उसकी बात का? जब पहली बार यह प्रसंग मेरे पढ़ने में आया, मुझे विश्वास ही नहीं हुआ कि कोई ऐसी बात कह सकता है। परन्तु बाद में, विचार करने पर, मैंने याज्ञवल्क्य की उक्ति के अन्तर्निहित अभिप्राय को खोज ही लिया। याज्ञवल्क्य चरम आहुति की बात कर रहे थे—ऐन्द्रिक संवेदों और तर्कशक्ति से प्राप्त समस्त ज्ञान का बलिदान कर देने का आह्वान कर रहे थे और यह सुझा रहे थे कि अन्तत: इस सारे लौकिक ज्ञान को उस परात्पर सत् के प्रति श्रद्धा में विसर्जित कर देना आवश्यक होता है जो कालातीत और सनातन है और जिसे न तो प्रत्यक्ष संवेदन द्वारा जाना जा सकता है, न अनुमान द्वारा। यह वह चरम आहुति है जो तभी दी जानी चाहिए जब उसकी अनिवार्यता का क्षण आ पहुँचे। क्योंकि मनुष्य अपनी ज्ञानेन्द्रियों अथवा तार्किकता के द्वारा जिन सत्यों को उपलब्ध कर सकता है, वे पारमार्थिक नहीं, व्यावहारिक, कामचलाऊ सत्य ही होते हैं जिनका संशोधन-परिमार्जन होता आया है।

इन प्राचीन पाठों में और भी ऐसी चीज़ें हैं जो उस काल (ईसा पूर्व की तीसरी सहस्राब्दी) की जैसी जो तस्वीर बनायी गयी थी उसमें काफी उलट-पुलट कर देने वाली हैं। आरम्भिक ब्राह्मण ग्रन्थों में कवष की कथा इसे झलकाती है। यही बात **छान्दोग्य उपनिषद्** में सत्यकाम जाबाल के आख्यान के बारे में भी है। मगर इस सब पर जितना ध्यान देना चाहिए, उतना ध्यान नहीं दिया जाता। न इस तथ्य को ही उभारा जाता है कि वेद के साथ वेदांग अनिवार्यतया जुड़े हुए हैं जिनमें मुख्यत: गणित, खगोलविद्या और काव्यशास्त्र आदि क्षेत्रों से सम्बद्ध प्रायोगिक और तार्किक ज्ञान समाहित हैं। यह बात अकल्पनीय जान पड़ती है कि इस ज्ञान का हड़प्पाकालीन सभ्यता की ज्ञानात्मक उपलब्धियों से अथवा उसके बाद के ज्ञान-विकास के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं था। आखिर बंदरगाहों का निर्माण अथवा सुदूर देशों के साथ समुद्री व्यापार का रिश्ता कायम करना बिना उच्चकोटि का यांत्रिक कौशल विकसित किये और बिना नक्षत्रों की जानकारी के किस प्रकार सम्भव है? अलावा इसके, व्यापारिक सम्बन्धों में सिर्फ उत्पादों का ही विनिमय नहीं हुआ करता, विचारों का भी आयात-निर्यात अनिवार्यत: होता रहता है। प्राचीन अथवा आधुनिक व्यापार-मार्ग ही वे मार्ग भी हैं जिनके द्वारा विचारों का एक सभ्यता से दूसरी सभ्यता तक संक्रमण हुआ। भारतीय सभ्यता का फारस की सभ्यता के साथ, या जरथुस्त्र के धर्म और दर्शन के साथ सम्बन्ध तो सर्वविदित ही है।

अर्थवत्ता में उतरने का उत्साह पता नहीं क्यों किसी को नहीं होता।

ईसा-पूर्व की पहली सहस्राब्दी के उत्तरार्द्ध की तथा ईसा पश्चात् की प्रथम सहस्राब्दी की कथा अभी लिखी जानी है। जो तस्वीर अभी प्रचलित है—कम से कम दर्शन के क्षेत्र में—वह पूर्णत: गलत व भ्रामक जान पड़ती है, क्योंकि वह बौद्ध चिन्तकों के तत्कालीन दबदबे को बहुत घटाकर दिखाती है। इस विषय पर जो कुछ लिखा मिलता है, उससे हमारे ऊपर यही छाप पड़ती है कि यह समूचा

काल औपनिषदिक वेदान्त दर्शन की धारा से अनुप्राणित रहा था। लेकिन आठवीं शताब्दी के शंकराचार्य से पहले ब्रह्मसूत्रों पर किसी भी भाष्य की सम्पूर्ण अनुपस्थिति कुछ और ही जताती है। यही हाल वेदों का है जिनके बारे में यास्क के **निरुक्त** के पश्चात् सातवीं-आठवीं सदी तक कोई ग्रन्थ नहीं लिखा मिलता, जब वल्लभी राज्य के अन्तर्गत पहली बार उन पर सीधा काम किया गया। वैदिक अध्ययन का वास्तविक पुनर्जन्म केवल विजयनगर के साम्राज्य में ही सम्भव हुआ जो चौदहवीं शताब्दी के बाद फला-फूला था। यह सही है कि हमारे पास मीमांसा-सूत्र और शबर का भाष्य तथा कुमारिल और प्रभाकर की सुप्रसिद्ध कृतियाँ विद्यमान हैं। किन्तु ये कृतियाँ सीधे वैदिक पाठों से जुड़ी हुई नहीं हैं। तथ्य यही है कि भारतीय दर्शन की तथाकथित 'ऑर्थोडॉक्स' परम्पराओं के अन्तर्गत रची गयी समस्त दार्शनिक कृतियों को भी जोड़ दें तो उनका योगदान बौद्ध-दर्शन ग्रन्थों की संख्या के आधे तक भी कदाचित् ही पहुँचेगा।

किन्तु दर्शन इस सहस्राब्दी में सृजित भारतीय सभ्यता के बहुमुखी कृतित्व का केवल मात्र एक आयाम भर है और शायद आप लोगों को यह जानकर उतना ही अचम्भा होगा जितना मुझे हुआ था, जब मैंने जाना कि सहस्राब्दी के अन्त में जो हमारे महानतम विचारकों में से एक हुआ था और जो स्वयं को आधुनिक कहता था, उसने स्वचेतन ढंग से अपने को पूर्ववर्ती आचार्यों से अलग किया था। इस विचारक का नाम उदयन था—महान् दार्शनिक, जो दसवीं शती के आसपास सक्रिय था।

बेशक, इस सहस्राब्दी का अन्त महमूद गजनवी के लगातार एक के बाद एक किये गये आक्रमणों से होता है। सोमनाथ मन्दिर के उसके द्वारा ध्वस्त किये जाने की कथा इस काल के इतिहास लेखकों द्वारा खूब बखानी गयी है। सोमनाथ ध्वंस की समकक्ष बौद्धिक घटना के रूप में अलबेरूनी के यात्रा वृत्तान्त की भी बहुत चर्चा हुई है जिसमें अलबेरूनी ने भारतीय विद्वानों की आत्म-तुष्ट और संगोपनशील मानसिकता की आलोचना की है और कहा है कि इन लोगों में बाहर वालों की ज्ञान-सम्पदा के प्रति कोई जिज्ञासा नहीं है। अलबेरूनी के वक्तव्य को इतना तूल दे दिया गया है कि वह विश्व भर में ब्राह्मण बुद्धिजीवियों के चरित्र का प्रामाणिक चित्र मान लिया गया है। मगर इस तथ्य को बड़ी आसानी से भुला दिया गया है कि यह उस आदमी की साखी है जो विजेता महमूद गजनवी के साथ भारत आया था, जिसे भारत की धर्मप्राण संस्कृति से घृणा थी और जो उस सबको निरंकुश ढंग से नष्ट करने में जुटा हुआ था जो भारत के लोगों के लिए दिव्य और पावन थी। ऐसी हालत में अलबेरूनी कैसे उन लोगों से यह अपेक्षा करता था कि वे उसे वह सब उत्साहपूर्वक बताने को प्रस्तुत होंगे जो वह उनसे जानना चाहता था? वास्तव में खुद अलबेरूनी ने ऐसी बात कही है जो किसी को धक्का पहुँचाने और उसकी आँखें खोलने को पर्याप्त है। वह यह कि सिवाय उन लोगों के जो किसी तरह भाग

निकले—हमारी पहुँच के बाहर—हमने जो भी हमारे हाथ आ गये उन सभी को नष्ट कर दिया है। ठीक-ठीक शब्द भले यह न हों, किन्तु अर्थ कुल मिलाकर उसके वक्तव्य का यही है।

तो भी, अलबेरूनी की भारत यात्रा का एक दूसरा आयाम भी है जिस पर हमारा ध्यान जाना चाहिए। वह यहाँ मनीषियों की खोज में नहीं आया था बल्कि गणित, खगोल, औषध-विज्ञान और इस तरह के व्यावहारिक उपयोग के ज्ञान-विज्ञान का पता लगाने आया था जिनके लिए भारत तब की सारी दुनिया में खासा जाना जाने लगा था। अरब लोगों पर यूनानी विद्वत्ता का प्रभाव तो सर्वविदित है परन्तु भारतीय विद्वत्ता ने अरबी दुनिया में ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में हो रहे विकास को कितना और किस तरह प्रभावित किया, इस बारे में बात बहुत कम हुई है। अरबी अंकों की बात ज़रूर होती है जो भारत से लिये गये थे। मगर उसके बाद...मानो कहानी शून्य है। इसी तरह भारत पर अरबी विद्वत्ता के असर के बारे में भी कोई चर्चा नहीं करता। इतिहासकारों की दिलचस्पी तो लगता है, सिर्फ लड़ाइयों और तबाहियों के ब्यौरों में रहती है और हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की शब्दावली में कहानी कहने में—भले यह जाना-माना तथ्य हो कि भारत में ही मुस्लिम शासकों के बीच आपस में युद्ध लड़े गये जिस तरह कि हिन्दू राजाओं के बीच भी।

ईसा के बाद की दूसरी सहस्राब्दी की कहानी को कई तरीकों से देखा जा सकता है। किन्तु इसे बलपूर्वक रेखांकित करना ज़रूरी है कि न केवल सोमनाथ के मंदिर का ध्वंस के बाद शीघ्र ही पुनर्निर्माण किया गया, बल्कि इस घटना के बाद काफी अन्तराल से उड़ीसा और मध्यप्रदेश के विख्यात मंदिर-समूहों की रचना हुई। भुवनेश्वर और खजुराहो के भव्य मंदिर इस तथ्य के जीवित प्रमाण हैं कि गजनवी के विनाशकारी आक्रमणों का उत्तर भारत के कुछ हिस्सों को छोड़कर कहीं कोई खास असर नहीं पड़ा और जहाँ पड़ा वहाँ भी थोड़े समय के लिए। नालन्दा का महान् बौद्ध विश्वविद्यालय दो सौ बरस आगे तक फलता-फूलता रहा जब तक बख्तियार खिलजी ने आकर न केवल विशाल भू-भाग में फैले उनके विहारों को धूल में मिला दिया, बल्कि लगभग उन सारे ही आचार्यों और स्थविरों की हत्या कर डाली जो वहाँ रहते और पढ़ाते थे। इतिहास में शायद ही कभी इतने सारे बुद्धिजीवियों का इतने कम समय के भीतर इतनी तेजी और आकस्मिकता के साथ कत्लेआम हुआ होगा। भारत में बौद्ध दर्शन इस भयंकर विनाशलीला के बाद बचा नहीं रह सका, क्योंकि इस तारीख (1200 ए.डी.) के बाद कोई बौद्ध विचारक प्रकट हुआ नहीं दीखता जबकि 1000 ए.डी. और 1200 ए.डी. के बीच के दो सौ बरसों में वे काफी तादाद में मौजूद थे। वस्तुतः इस दौरान उनकी संख्या वेदान्तियों से कहीं अधिक थी जबकि यह शंकराचार्य से काफी बाद की बात है जिन्हें आठवीं सदी में ही भारत से बौद्ध दर्शन के उन्मूलन

का श्रेय दिया जाता है। विचित्र तथ्य यह भी है कि जैन धर्म भी 1000 ए.डी. के बाद खासा फलता-फूलता दिखाई देता है और जैन दर्शन के विद्वानों की संख्या भी वेदान्तियों से अधिक थी।

अद्वैत वेदान्तियों को जो चुनौती मिली वह एक दूसरी जगह से। यामुनाचार्य से आरम्भ करते हुए एक पूरी शृंखला महान् वेदान्ती आचार्यों की दक्षिण में प्रकट हुई जिन्होंने शंकर कृत उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों के भाष्य से असहमति प्रकट की। अब दार्शनिक गतिविधि का केन्द्र विंध्याचल के और नर्मदा के दक्षिण की ओर खिसक गया। यामुनाचार्य ने वेद के समकक्ष ही आगम-ग्रन्थों की प्रामाणिकता स्थापित करते हुए **आगम-प्रामाण्य** लिखा। इससे भी गम्भीर चुनौती वीर शैव सम्प्रदायों की ओर से प्रस्तुत हुई जिन्होंने खुले तौर पर वेद के प्रमाण को अस्वीकार किया और अपने ग्रन्थ तमिल भाषा में लिखे। दक्षिण में ही शैव सिद्धान्त का आंदोलन खड़ा हुआ। इसके अतिरिक्त तर्कशास्त्र और ज्ञान मीमांसा के क्षेत्रों में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई जिसके केन्द्र पूर्वी भारत में—खासकर बिहार तथा बंगाल में थे जहाँ गंगेश से गदाधर तक एक से एक बौद्धिक चमत्कारों का बोलबाला रहा। दक्षिण और पूर्व इस प्रकार महान् बौद्धिक गतिविधियों के केन्द्र बने इसी सहस्राब्दी के पूर्वार्द्ध में। ठीक इस वक्त, जिस वक्त उत्तरी भारत एक के बाद एक राजवंशों के मुस्लिम शासकों के आधिपत्य से गुजरता रहा और जिनका वास्तविक नियंत्रण दिल्ली और आगरा के आस-पास ही केन्द्रित रहा।

इस युग के इतिहासकारों ने अपना समूचा ध्यान उत्तरी भारत की राजनैतिक घटनाओं पर ही केन्द्रित किया है और इसीलिए उस काल का बड़ा एकांगी और विकृत चित्र ही वे प्रस्तुत कर सके हैं। समझ में नहीं आता यह किस तरह का इतिहास लेखन है, जो पूरी तरह दिल्ली आगरा में हुकूमत चला रहे गिने-चुने राजवंशों पर ही सिमटा रहता है और दक्षिण में चार सौ बरसों तक अत्यन्त सफलतापूर्वक सक्रिय चोल शासन की अद्भुत उपलब्धियों को बिल्कुल नजरअंदाज कर देता है। चोलों ने न केवल सीलोन जीता, बल्कि इण्डोनेशिया तक जा पहुँचे थे। हमें याद रखना चाहिए कि दक्षिण में न केवल हिन्दू राज्यों की एक गौरवशाली परम्परा ग्यारहवीं सदी से लगाके कोई पाँच-साढ़े पाँच सौ वर्षों तक फलती-फूलती रही—विजयनगर साम्राज्य के अन्त (1567 ए.डी.) तक, बल्कि ज्ञान और सर्जना के सभी क्षेत्रों में भारतीय सभ्यता के प्रगतिशील अभियान का सिलसिला अपने सभी आयामों में चलता रहा और सभी आयामों में अपने नैरन्तर्य और विकसनशीलता का असंदिग्ध प्रमाण प्रस्तुत करता रहा। चोल कांस्य-मूर्तियाँ विश्वविख्यात हैं और इसी तरह विजयनगर साम्राज्य के अन्तर्गत सायणाचार्य द्वारा किया गया वेदभाष्य भी। केरल भी रचना की दृष्टि से बहुत समृद्ध रहा इस काल में; कहा जाता है कि न केवल साहित्य और कलाओं में, बल्कि

गणित और व्याकरण जैसे ज्ञान-क्षेत्रों में भी वहाँ जबर्दस्त प्रगति हुई। किन्तु उस तरफ भी अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया है। इतिहास जो कथा कहता है वह गौरी वंश, गुलाम वंश, खिलजी वंश, तुगलक वंश, सैयद वंश, लोदी सल्तनत और मुगल सल्तनत की कथा है। यही वह तस्वीर है खण्डित और विकलांग जो इतिहासकारों ने बनायी है। जहाँ तक उत्तर भारत का सम्बन्ध है, शायद मात्र एक तुगलकों को छोड़कर वास्तविक सृजनात्मक गतिविधियाँ मुगलों के ही आगमन के साथ सम्भव हो पायीं, जिनका प्रभावी शासनकाल 1527 ए.डी. में हुई पानीपत की लड़ाई से नहीं, बल्कि 1540 या 1560 ए.डी. के आस-पास शुरू हुआ माना जाना चाहिए जब अकबर ने गुजरात विजय के साथ अपना साम्राज्य सुदृढ़ किया। तो भी, उत्तर भारत में इस्लामी शासन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ स्थापत्य, प्रशासन, चित्रकला और संगीत के क्षेत्रों में हुई हैं यद्यपि इतिहासकारों के वृत्तान्तों में उन पर बहुत कम ध्यान दिया गया है।

यही काल समस्त भारतवर्ष में सन्त कवियों के उत्कर्ष का भी स्वर्ण युग है। देशी भाषाओं में साहित्य रचना का एक नया युग तभी प्रारम्भ होता है। राष्ट्रीय पुनरुत्थान को समर्पित नये केन्द्रों की नींव भी इसी दौरान पड़ती है जैसे कि चैतन्य महाप्रभु के नेतृत्व में वृन्दावन में सोलहवीं सदी के अन्तिम दशकों में। नहीं भूलना चाहिए कि वृन्दावन न केवल मथुरा के बहुत निकट है, बल्कि आगरा भी वहाँ से पास ही है—वह आगरा जो वैभवशाली मुगल साम्राज्य के मध्याह्न के सूर्य की तरह चमक रहा था। अकबर निश्चय ही महान् शासक था और उसने जो साम्राज्य खड़ा किया वह 1707 ए.डी. में औरंगजेब की मौत तक कायम रहा।

इसके बाद की कहानी सभी को मालूम है। 1757 ए.डी. में प्लासी का युद्ध होता है और 1857 ए.डी. में उत्तरी भारत का पहला संयुक्त और विफल अभियान अंग्रेज़ों को हिन्दुस्तान की सरजमीं से खदेड़ने का। यह सपना 1947 में पूरा होता है—1857 में अंग्रेज़ों की जीत के कुल नब्बे बरस बाद। जरा सोचिये, अंग्रेजों की अपनी सारी नयी टेक्नोलॉजी और शक्ति के साथ समूचे देश पर अपना आधिपत्य कायम करने में सौ साल लगे और यहाँ से जाने के लिए मजबूर किये जाने में सिर्फ नब्बे साल।

1947 के पहले की कथा अकल्पनीय सी जान पड़ती है। राजा राममोहन राय से लगाकर गाँधी तक जो विलक्षण विभूतियों की पूरी पाँत की पाँत इस छोटे से कालखण्ड के भीतर एक के बाद एक हमारी आँखों के सामने गुजरती है, वह किसी भी अन्य सभ्यता के इतिहास में अनूठी और अतुलनीय कही जायेगी। अक्षरशः। फिर भी आज जब हम अपने चतुर्दिक के परिवेश पर निगाह डालते हैं या सुबह का अखबार पढ़ते हैं तो भीतर से विषण्ण और निस्तेज महसूस करते हैं। किन्तु हमें सभ्यताओं के दीर्घकालीन अभियानों की तरफ देखना सीखना होगा। पीछे मुड़कर देखें और इतिहास के समूचे दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में अपने को

रखकर सोचें तो हमें कुछ अलग तरह का अहसास होगा। आखिर 1947 के बाद के भारत की भी अपनी बड़ी उपलब्धियाँ हैं। उनका संक्षिप्त भी सर्वेक्षण करें तो हम पायेंगे कि हम पर जो भी गुजरी है, बुरी नहीं गुजरी है, बल्कि हमने सुनिश्चित ठोस प्रगति की है। जनसंख्या में अकल्पनीय वृद्धि के बावजूद हम इस पूरे समय के दौरान किसी बड़े पैमाने पर अकाल-भुखमरी के शिकार नहीं हुए यह अपने आप में ऐसी उपलब्धि है जिसकी मिसाल ब्रिटिश राज या मुगल शासन दोनों में नहीं मिलेगी। द्वितीय महायुद्ध के दौरान पड़ा मनुष्यनिर्मित बंगाल का अकाल जरूर अंग्रेज़ी राज की उपलब्धियों में गिना जाएगा। स्वतंत्रता के बाद भारत की उपलब्धियाँ विस्मयजनक हैं, संख्या की दृष्टि से; हालांकि प्रति नागरिक की आय के हिसाब से देखा जायेगा तो उपलब्धि नगण्य लगने लगेगी। विज्ञान के क्षेत्रों में, यथा न्यूक्लियर टेक्नालॉजी तथा अंतरिक्ष विज्ञान में, जहाँ पश्चिमी ताकतें अपने ज्ञान को प्रकट करने के मामले में अत्यन्त गोपनीयता बरतती रही हैं, भारत दूसरे देशों के लिए ईर्ष्या का विषय बन गया है। इतना ही नहीं, वर्णपट के दूसरे छोर पर, गाँधी की विरासत भी नष्ट हुई ऐसा कदापि नहीं कहा जा सकता। उसे लेकर पहले विनोबा ने, तत्पश्चात् जयप्रकाश नारायण ने बड़े पैमाने पर प्रयोग किये ही। यद्यपि यह सही है कि उनके प्रयोग सफल नहीं हुए, तथापि यही तथ्य, कि वे आजमाये गये, यही जताने को काफी है कि लोग गाँधी को भूले नहीं थे। उनके बाद भी अभी हाल में ही पाण्डुरंग शास्त्री अठवले का स्वाध्याय आंदोलन चुपचाप अपना काम करता रहा है। ऐसा नवीन प्रयोग जिसने लाखों देशवासियों की रोज़मर्रा की जिंदगी में अद्भुत रूपान्तरण सम्भव कर दिखाया। तो कैसे कहा जाये, वह गाँधी वाली आध्यात्मिक विरासत मिट गयी?

परन्तु मैं आप लोगों को यह सब क्यों बता रहा हूँ? शायद आप लोग कम से कम पाँच सहस्राब्दियों से अभी तक चली आ रही इस कहानी के ब्यौरों से उकता गये होंगे। नहीं? मैं सिर्फ आपको याद दिलाना चाहता हूँ कि अब इस तीसरी सहस्राब्दी में प्रवेश करने के पूर्व हमें एक बार पीछे मुड़कर देख लेना चाहिए और अपनी सभ्यता की उस सुदीर्घ यात्रा की समूची झलक पा लेनी चाहिए कि कितनी दूरी हमने तय की है। ऐसा करने से हममें अपने अतीत से प्रोत्साहन और संकल्प साहस बटोर कर भविष्य में संक्रमण करने का हौसला जागेगा। हाँ, नयी सहस्राब्दी में प्रवेश करते हुए उसकी दहलीज पर हमें एक और तर्क दिखाई देता है इस प्रत्यवलोकन की अनिवार्यता का। वह यह, कि पिछले एक सौ पचास बरसों में कुछ ऐसा घटित हुआ है कि हम इस भारतीय सभ्यता के ज्ञानात्मक अतीत की जातीय स्मृति से कट गये हैं, उस स्मृति से, जो आत्म चेतना के स्तर पर इस सभ्यता के होने की, उसके अस्तित्व की ही बुनियादी शर्त रही है।

सन् 1857 में अंग्रेज़ों ने भारत में अपने विश्वविद्यालय स्थापित किये थे और तब से वे बाढ़ की तरह फैलते रहे हैं और उन्होंने हिन्दुस्तानियों के भीतर एक नये

ही वर्ग को पनपाया है—जिस वर्ग में हम और आप सभी आते हैं—जो अपने मुल्क और उसके लम्बे अतीत से कहीं ज़्यादा पश्चिम के बारे में जानते हैं। ज्ञान के हर क्षेत्र में हम केवल जानते हैं जो पश्चिम ने उपजाया है—यूनानियों के वक्त से लगाकर आज तक। क्योंकि हमारे स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों में—जहाँ हमारे दिलोदिमाग की ढलाई होती है—यही पढ़ाया जाता रहा है। इस प्रकार एक ऐसी मानसिकता का निर्माण हुआ है जिसमें हर आदमी भीतर से यही मानकर चलता है कि सारे ज्ञान की जड़ें पश्चिम में हैं; कि भारतीय सभ्यता का, या शायद किसी भी अन्य पश्चिमेतर सभ्यता का अतीत इस दृष्टि से शून्य है कि उसका विश्व-सभ्यता को कोई योगदान नहीं है और हमारे यहाँ अगर कुछ है जिससे हम थोड़ी बहुत उम्मीद कर सकते हैं, तो वह है सिर्फ अध्यात्म, धर्म या विज़्डम, जो भी उसे कह लें।

हमारी सभ्यता का यह सर्वग्रासी स्मृति-भ्रंश हमारे भीतर इतनी गहरी जड़ पकड़ चुका है कि हममें से अधिकांश इस तथ्य से बिल्कुल भी अवगत नहीं होते कि हम अपने इतिहास के हजारों वर्षों के दौरान इन सब ज्ञानात्मक अभियानों से गुजर चुके हैं और उनसे गुजर कर ही यहाँ तक पहुँचे हैं। हमारी यह स्मृति-भ्रष्ट बदहाली उस शिक्षा-पद्धति की देन है जो अंग्रेज़ों ने इस देश में रोपी और जिसकी परिणति एक भयानक रंगभेद सरीखे पार्थक्य (अपार्थीड) में हुई है। एक तरफ वे लोग हैं जो अभी भी किसी तरह ज्ञान की परम्परागत पद्धतियों से चिपके हुए हैं, और दूसरी तरफ वे जो उन विषयों का उस पद्धति से अध्ययन करते हैं जिसे 'मॉडर्न' कहा जाता है। इन दो वर्गों के बीच किसी तरह के संवाद या सम्प्रेषण की गुंजाइश ही नहीं बची है। चूँकि ये 'मॉडर्न' ही देश के वास्तविक सत्ताधारी एलीट के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं और चूँकि वही अपने को इस सभ्यता का एकमात्र प्रतिनिधि मानते-समझते हैं, इससे एक ऐसी विचित्र और असंगतियों से पटी हालत पैदा हो चुकी है कि इस देश का सभ्यतागत अतीत, जिसने अपने आपको पाँच हजार बरसों—और उथल-पुथल से भरे बरसों में भी—निरन्तर कायम और सक्रिय रचनाशील रखा, उसके सामने अब इतिहास की इस घड़ी में सम्पूर्ण आत्म-विस्मृति और पूरी तरह उजड़ जाने का खतरा उपस्थित है। यह खतरा पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रवर्तित और भारतीयों द्वारा बिना विचारे अपना लिये गये इण्डोलॉजिकल दृष्टिकोण से और गहरा गया है। उस दृष्टिकोण के अनुसार इस सभ्यता के बौद्धिक अतीत को अभिलेखागारों तथा पुस्तकालयों में सुरक्षित कर लेना चाहिए जिस तरह प्राचीन मिश्र में लोग शवों को ममी बनाकर दफनाते थे। ताकि वे अध्ययन और शोध के लिए उपयुक्त सामग्री की तरह सुलभ हो सकें, बस। इस तरह का दृष्टिकोण भारतीय अतीत को शव में बदल देता है और उसे पिरामिड के लायक ही बना छोड़ता है।

हो सकता है, बहुतों को यह तरीका ठीक लगता हो, परन्तु सही बुद्धि यही कहती है कि इस सभ्यता को—अद्यावधि जीवित प्राणवन्त सभ्यता को—बनाए रखने का, उसके रख-रखाव का, यह कोई उपाय नहीं है। जो इसे अपना रहे हैं, वे वे लोग हैं जो तरह-तरह के कोश तैयार करते हैं, हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज करते हैं और फिर उन्हें वातानुकूलित पुस्तकालयों-अभिलेखागारों में ले आते हैं और कभी-कभार उन्हें सम्पादित करके छपा भी देते हैं। इस किस्म की गतिविधियाँ ठेठ सन् 1784 से—जब 'एशियाटिक सोसाइटी' स्थापित की गयी थी—तब से चली आ रही हैं : इस देश में भी और विदेशों में भी, कई सारे हमारे विद्वान् लोग इन ग्रन्थों का अंग्रेज़ी में अथवा भारतीय भाषाओं में अनुवाद करने में जुटे हुए हैं, हो सकता है, उनके उद्देश्य निर्दोष हों, तो भी ये निर्दोष उद्देश्यों से प्रेरित विद्वज्जन सुविधापूर्वक भूल जाते हैं इस बात को, कि भारतीय सभ्यता को अपना कोई भी उद्योग इस तरह 'प्रिज़र्व' करके रखने की नौबत कभी नहीं आयी—ज्ञात इतिहास की समूची अवधि में। वे यह भी भूल जाते हैं कि इस तरह के संरक्षणात्मक क्रिया-कलाप जितने बढ़ते जाते हैं, उतना ही लोगों का अपने देश की परम्पराओं का ज्ञान विस्मृत होता जा रहा है। विड़म्बना यह है कि जितना ही प्राचीन ग्रन्थों के मुद्रण का कार्य बढ़ता जा रहा है उसी अनुपात में हमारी संस्कृति के सरलतम पाठों को सीखने समझने की हमारी क्षमता क्षीण होती जा रही है। जहाँ पाण्डुलिपियों को समझने का सवाल है, उन्हें तो पढ़ने-समझने की कौन कहे, सुरक्षित रखने के लिए ही पाण्डुलिपि-विज्ञान के विभाग खोलने पड़ रहे हैं।

यह सारी वस्तुस्थिति सभी लोग जानते हैं। तथापि जिसका भी भारत के अतीत से जरा भी लेना-देना नहीं है, उसे इस संकट के इलाज या सुधार का इसके सिवा और कोई उपाय नहीं सूझता कि जैसे भी हो, यह संरक्षण वगैरह का काम ही तेज किया जाये और सरकारी संस्थान इसके लिए जितना हो सके, उतनी धनराशि मुहैया करें। इस विड़म्बनापूर्ण कर्म को परम्परा का 'संरक्षण' कहा जाता है। मैं जोर देकर इस बात को कहना चाहता हूँ कि अतीत संरक्षण की इस धारणा को जब तक पूरी तरह त्याग नहीं दिया जाता, तब तक इस देश की अतीतपरम्परा को बचाने या उसका जतन कर सकने की उम्मीद रखना बिल्कुल बेकार है। परम्पराएँ उनको जाग्रत साक्षात् जीवन से काट करके, विच्छिन्न करके न तो बचायी जा सकती हैं, न चुस्त दुरुस्त रखी जा सकती हैं। उनका सही रख-रखाव तभी सम्भव है जब वे उनका अध्ययन या शोध करने वालों के सक्रिय बुद्धिजीवन का साक्षात् जीवन्त अंग बन सकें। इसका तात्पर्य यही है कि उसका अनवरत, आलोचना-प्रवण अनुशीलन होता रहे; वे हमारे जीवन्त संवाद में शामिल हों और हमारे जीवन्त अनुभव की रोशनी में परखी जाती रहें; संशोधित परिमार्जित की जाती रहें। साथ ही जिन दिशाओं में विकास हमें अभीष्ट है, उनके संदर्भ में भी वे हमारे जीते-जागते सरोकार बनें।

अर्थात् जिसे हम रख-रखाव या 'मेण्टेनेन्स' कह रहे हैं उसकी प्रक्रिया पुनर्नवीकरण से अलगायी नहीं जा सकती। और पुनर्नवीकरण को फिर उसी तरह विकास के प्रश्न से काटकर नहीं देख सकते। ये तीनों बातें एक ही क्रिया के तीन पहलू हैं : अर्थात्, जो हमें मिला है, जो हमारी विरासत है, उसके साथ जीवन्त क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्बन्ध और इस विरासत में उसे परिवर्तित करने की सहज तत्परता—ऐसी आत्म-चेतना के साथ जो कि आलोचना-प्रवण भी होगी, गुण-स्वीकारी भी होगी और सृजनशील भी होगी। और तीनों एक साथ होगी। ये तीनों आयाम इतने आपस में लगे-लिपटे हुए होते हैं फिर भी हमारी प्रवृत्ति उन्हें अलगाने की है। ग्रहण करने वाली और निर्णय करने वाली आत्म-चेतना का अर्थ ही होता है—उस निर्णय का एक ओर हमारी भावनाओं पर प्रभाव पड़ना, और दूसरी ओर सम्यक् कर्म की दिशा में हमें प्रेरित करना। तो वैसा ही सभ्यता के अतीत की हमारी समझ के साथ भी होना चाहिए। परम्पराओं को यथावत्, जैसी वह है या थी—मानना एक निरी भ्रान्ति है जो इस तथ्य से पोषित होती है कि हमें खुशफहमी है कि हम उसकी रक्षा को सुनिश्चित करने वाले काम में संलग्न हैं—उसे यथावत् अतीत की जैसी शुद्धता में कायम रख के। आखिर एक जीवित वस्तु एक मृत वस्तु से किस मायने में अलग होती है? इसी में न कि जहाँ मृत वस्तु को हम कुछ लक्षणों के आधार पर पहचानते हैं, जीवित वस्तु को हम उस तरह कभी नहीं समझ सकते। उसे हम केवल उसके उद्देश्य या पुरुषार्थ या अभीप्सा की शब्दावली में ही ग्रहण कर सकते हैं। कि वह किस तरह चरितार्थ होने की कोशिश करती है और अपने में किस अभीप्सा को साकार करने की उसकी अंदरूनी माँग है। इस तरह उसका 'होना' उसके होते रहने यानि **परिणमन** की प्रक्रिया में ही सन्निहित है—वह परिणमन, जो कभी समाप्त होने वाली प्रक्रिया नहीं है। क्योंकि यदि कोई वस्तु निरन्तर जीवित रही आती है, तो वह अन्तर्विवश है उस आदर्श को साकार चरितार्थ करने के लिए, जिसका उसे संज्ञान होता है। भारतीय परम्परा जिसे 'पुरुषार्थ' करके पहचानती है, उसका यही अर्थ है, हालांकि उसे इस तरह समझा या समझाया नहीं गया है।

मैं इसलिए भारत के अतीत को एक बार फिर से जीवन्त बनाने के लिए एक तिहरी रणनीति प्रस्तावित करना चाहूँगा। पहला कदम होगा उसके प्रति सचेतन जागरूक हो जाना। लेकिन, जैसा कि मैंने अभी-अभी कहा—किसी जीवित वस्तु के बारे में जागरूक होना उसकी अभीप्सा के बारे में सचेतन होना है और यह अभीप्सा, यह खोज कई दिशाएँ अपना सकती है, कई रूप धारण कर सकती है। जागरूक होने का मतलब, इसलिए उन अवधारणाओं, जिज्ञासाओं, समस्याओं और विचारों के प्रति जागरूक होना है जिनका अतीत में सामना किया गया, अनुधावन किया गया और फिर उन्हें सूत्रबद्ध किया गया। परन्तु चूँकि यह सब उस विशेष संदर्भ में घटित हुआ जिसमें वह अपने उद्भव की प्रक्रियाओं द्वारा ही बँधा

हुआ था, इसलिए उसका एक विशेषीकृत रूढ़ हो चुका रूप है जिससे उसे मुक्त किया जाना ज़रूरी है। ताकि उसमें जो कुछ सचमुच सार्वभौम है, उसे स्वायत्त किया जा सके। जिससे वह हमारे उस नये जीवन संदर्भ में चरितार्थ हो सके जिसमें हम आज जी रहे हैं। यह स्वायत्तीकरण, समझने का यह उपक्रम, इसे एक पुरुषार्थ की तरह हमारे लिए प्रस्तुत करता है। अर्थात् ऐसे नये से नये जीवन्त रूपों में, जो कभी नहीं चुकते, वह अपने को उद्घाटित और चरितार्थ करने की चुनौती हमारे सम्मुख पेश करता है। अपनी प्रकृति से ही कोई आदर्श या पुरुषार्थ कभी भी इस लोक में अपनी सम्भावनाओं को सौ फीसदी चरितार्थ नहीं कर सकता। इसीलिए वह आदर्श है और इसीलिए वह वरणीय है।

एक विपुल-विराट् सभ्यता की धरोहर—जैसी कि हमारी सभ्यता रही है—इस तरह एक असमाप्य कार्य की तरह, होती है, जिसे हमको अतीत की पीढ़ियों की ओर से सौंपे गये दायित्व की तरह अनुभव करना चाहिए। ऐसी धरोहर, जिसके प्रति हम ऋणी अनुभव करते हैं—उस सारी समृद्धि के लिए जो वह हमारे लिए छोड़ गयी है। जिसे उसने अभी अधूरे कार्य की तरह हमारे करने के लिए छोड़ा है—अपनी योग्यता, अपनी अन्तर्दृष्टियों के अनुसार।

वर्तमान का संदर्भ वह है जहाँ हम सिर्फ़ एक, मात्र एक सभ्यता द्वारा चारों तरफ से घिर गये हैं, आक्रान्त हैं। हमारी ही जैसी दु:खद-विड़म्बनापूर्ण नियति अन्य सभ्यताओं की भी है। शायद आगामी सहस्राब्दी में हमारी सबसे बड़ी जिम्मेदारी यही है कि हम अपने आपको इन तमाम अन्य सभ्यताओं के प्रति, उनके पुरुषार्थों के प्रति खोलें और इसका यत्न करें कि किस तरह हम स्वयं अपनी सभ्यता के अन्तर्निहित और प्रेरक पुरुषार्थ को उनकी रोशनी में रूपान्तरित, परिवर्तित-संशोधित कर सकते हैं और इसी खुलेपन में अपने आर-पार सृजनशील भी बने रह सकते हैं।

❑

बीसवीं शताब्दी का अन्त और इक्कीसवीं शताब्दी का आरम्भ

अन्त और आरम्भ—इस व्याख्यान का आरम्भ कैसे किया जाये? जो वक्ता इस व्याख्यान-शृंखला का अन्त करने वाला होगा उसके सामने इसको लेकर कोई समस्या नहीं होगी क्योंकि उसके पहले बहुत कुछ कहा जा चुका होगा और उसके आधार पर वह कुछ अन्त भी कर सकता है या करने की चेष्टा कर सकता है। पर आरम्भ...।

वास्तव में चर्चा का विषय तो वही होना चाहिए जो अनादि और अनन्त है। जिसका प्रारम्भ होता है या जिसका अन्त होता है उसकी क्या चर्चा करें! अगर किसी चीज़ का अन्त हो गया है तो वह स्मृति का विषय हो सकती है, संस्कार का विषय हो सकती है; चर्चा का विषय वह तभी हो सकती है जब हम उसको नये तरीके से देखने की कोशिश करें। और यह बात कि जो हो चुका है उसको अनेक दृष्टियों से देखा जा सकता है, उसके अनेक पहलू उभारे जा सकते हैं—यह शायद सबसे अजीब बात है। अभी कुछ दिन पहले रमेशचन्द्र शाह ने कहा कि वे एक नया उपन्यास लिख रहे हैं। उस उपन्यास में एक आदमी है जो अपनी जीवन-कथा लिखना चाहता है। वह हर बार लिखता है और हर बार उसको नकार देता है, काट देता है और यह बात बार-बार होती है। यही स्मृति की कहानी है कि उसको बार-बार अनेक नजरियों से देखते हैं और फिर कहते हैं कि नहीं, यह ठीक नहीं है और फिर कोई नजरिया अपनाते हैं; या यह नजरिया कोई दूसरा आदमी अपनाता है। तो जिस शताब्दी का अन्त हो रहा है उसको हम कैसे देखें? मैं आपके सामने उसके कुछ नजरिये रखना चाहूँगा।

इसी संदर्भ में कल ही मदन सोनी ने एक बात कही और मैं समझता हूँ कि बात इस संदर्भ में उतनी ही सार्थक है जितनी रमेशचन्द्र शाह का वह उपन्यास जो वह लिख रहे हैं। मदन ने यह बात कही कि एक प्रसिद्ध दार्शनिक हैं (उन्होंने नाम नहीं लिया, हो सकता है उनका इशारा शल्य जी की ओर हो) जो यह कहते हैं कि वे इस शताब्दी में नहीं रहते। मदन सोनी ने कहा कि यदि हम इस शताब्दी में हैं,

इसमें जी रहे हैं तो इसको नकारा तो नहीं जा सकता। यह ठीक है, पर मेरे मन में सवाल उठा कि स्वयं यह शताब्दी किसमें स्थित है? हम शताब्दी में स्थित हैं पर यह शताब्दी किसमें स्थित है? और किसी शताब्दी में स्थित होने का मतलब क्या होता है? जो गैर-पश्चिमी संस्कृतियाँ और सभ्यताएँ हैं उनके सामने इस शताब्दी में स्थित होने का अर्थ बहुत भिन्न है। यही इस शताब्दी की स्थिति का केन्द्र-बिन्दु है। जो शताब्दी गुजर रही है, गुजरने वाली है, जिसका अन्त होने वाला है उसमें पश्चिमी सभ्यता, संस्कृति, उसका दृष्टिकोण, उसकी चेतना, उसके चिन्तन की कोटियाँ, उसका भावना जगत् और भावना के तरीके वास्तव में सारे जगत् पर इस प्रकार छा गये हैं कि हर सभ्यता, संस्कृति का मनुष्य इस शताब्दी में अपने को स्थित करना चाहता है तो वह असल में खुद को इन तमाम चीजों में स्थित करना चाहता है, उनसे सम्बन्ध जोड़ना चाहता है, उनको आत्मसात करना चाहता है। यह हमारी स्थिति है।

यह स्थिति कैसे उत्पन्न हुई, इसका एक लम्बा इतिहास है। इस बात को हम जब तक नहीं समझेंगे तब तक इस शताब्दी में खुद को स्थापित करने का हमारा प्रयत्न सार्थक नहीं होगा। तब यह शताब्दी, जिसका केन्द्र पश्चिम का विचार है, उसके चिन्तन की कोटियाँ हैं, उसके नजरिये हैं, उसके देखने का अंदाज है, वह क्या है? मैं आपके समक्ष कुछ पेश करने की कोशिश करूँगा। शायद आपको पसन्द आये।

यह शताब्दी भी जब प्रारम्भ हुई थी तब भी ऐसा ही वातावरण रहा होगा। लोग सोचते होंगे कि एक शताब्दी का अन्त हो रहा है और एक शताब्दी का प्रारम्भ हो रहा है। तब क्या हो रहा था? उस सबकी ओर तो नहीं पर कुछ चीज़ों की ओर मैं दृष्टिपात करूँगा। पश्चिम का एक लम्बा इतिहास है—शुद्ध बुद्धि में आस्था का इतिहास। जब तक आप इस आस्था के प्राण को नहीं समझेंगे तब तक पश्चिम को नहीं समझ सकते। इस आस्था का इतिहास बीसवीं सदी का इतिहास है। जो लोग कला, साहित्य इत्यादि से सम्बन्धित होते हैं, वे सामान्यत: बुद्धि में इस आस्था के प्रति उदासीन होते हैं और इस इतिहास में उनकी कोई विशेष रुचि नहीं होती। लेकिन जो दर्शन का क्षेत्र है, विज्ञान का क्षेत्र है, तकनीक का क्षेत्र है और वे तमाम अनेकानेक क्षेत्र जिन्होंने वास्तव में इस सदी को बनाया है, जिन्होंने आज की स्थिति को उपस्थित किया है वे एक गहन बौद्धिक आस्था के क्षेत्र रहे हैं : बुद्धि में आस्था।

यह आस्था क्या थी? यह अपने में बहुत लम्बी बात है, एक अलग व्याख्यान का विषय। शुद्ध बुद्धि में आस्था का अर्थ क्या होता है? वह आस्था यह है कि जो सत् है उसे हम शुद्ध बुद्धि के द्वारा जान सकते हैं, उसके लिए अनुभव की आवश्यकता नहीं है। और शुद्ध बुद्धि से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अनिवार्य रूप से, अवश्यम्भावी रूप से सत्य भी होता है। कोई बात जो शुद्ध बुद्धि से प्राप्त होती

है, उसमें एक निश्चितता होती है, क्योंकि वह अनुभव से प्राप्त नहीं है, अनुभव पर आश्रित नहीं है। और उसमें एक सार्वभौमिकता होती है। इस अनिवार्यता और सार्वभौमिकता के अलावा, अनिवार्य रूप से वह ज्ञान उस चीज़ के बारे में भी सत्य होता है जो हम इन्द्रियों के माध्यम से जानते हैं।

इस ज्ञान का प्रारूप गणित का ज्ञान है। गणित का ज्ञान अजीब ज्ञान है। जरा सोचिए कि यह ज्ञान है क्या? हम कहते हैं दो और दो चार होते हैं। ज़रा गिनती गिनिये, गिनती तो कभी समाप्त नहीं होती। जगत् की वस्तुएँ समाप्त हो सकती हैं, वे गिनती में सीमित हैं, लेकिन गिनती समाप्त नहीं हो सकती। यह जो गणित के ज्ञान की, संख्याओं की अनन्तता है, यह क्या है? संख्याएँ अनन्त हैं और हम इस बारे में ज्ञान प्राप्त करते हैं और निश्चित ज्ञान प्राप्त करते हैं। अनन्त के बारे में एक सीमित बुद्धि ज्ञान प्राप्त करती है, ऐसा ज्ञान जो अनिवार्यत: सत्य है। पर यह जो आपके सामने संसार है अगर आप इसको सत्य मानते हैं तो वह तो सीमित है; तब गणित अगर एक वास्तविक ज्ञान है जो कि शुद्ध बुद्धि के द्वारा प्राप्त होता है और जो ज्ञान अनिवार्यत: इन्द्रियजन्य ज्ञान पर लागू होता है, जैसे कि ज्यामिति शास्त्र में होता है, तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह ज्ञान किस विषय का है। यह संख्या क्या है? क्योंकि संख्या तो अनन्त है, संख्या वह चीज़ नहीं है जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होती हो। इन्द्रियों के द्वारा अनन्तता ग्रहण नहीं होती। इन्द्रियजन्य ज्ञान हमेशा सीमित होता है : वह यहाँ है, अब है। यही नहीं, जैसे-जैसे गणित की संख्याओं के क्षेत्र का विस्तार होता है वैसे-वैसे यह समस्या और जटिल होती जाती है। मसलन जब हम कहते हैं कि यह शून्य है तो शून्य किस प्रकार की संख्या है? और शून्य से नीचे जाने वाली संख्या, जिसको हम नेगेटिव संख्या कहते हैं, वह क्या है? रेशियो क्या है, रेशनल कही जाने वाली संख्याएँ क्या हैं? संख्याओं के क्षेत्र का विस्तार कहाँ-कहाँ, कब-कब हुआ है और उसने मनुष्य के लिए क्या समस्याएँ उत्पन्न की हैं—यह अपने आपमें एक बड़ी भारी कहानी है। बहरहाल मैं आपका ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि मनुष्य के सामने एक समस्या यह उत्पन्न हुई—शताब्दी के प्रारम्भ में—कि यह ज्ञान वास्तव में किस विषय का ज्ञान है। क्योंकि अगर आप यह मानते हैं कि गणित का ज्ञान है और वह किसी विषय का ज्ञान है तो उस विषय की सत्ता भी माननी पड़ेगी। उस विषय की सत्ता मानते ही आपको असंख्य की, गणनातीत की, अनन्त की सत्ता माननी पड़ेगी। और आधुनिक मानव अनन्त की सत्ता कैसे मान सकता है! इस सदी की शुरुआत इस समस्या से होती है।

आज जिसको आप 'सेक्युलरिज्म' कहते हैं, उसका अर्थ क्या है? यही कि इन्द्रियों से जो ग्रहण होता है, वह ही सच है, बाकी सब कल्पना है। अगर हम यह मानते हैं कि जो इन्द्रियों से भोगा जा सकता है, जिसका आनन्द इन्द्रियों से लिया जा सकता है, जो इन्द्रियों को शुभ-अशुभ लगता है वही सत् है, वही शुभ है, वही

सुन्दर है, बाकी सब कल्पना है तो गणित जो शुद्ध बुद्धि के ज्ञान का क्षेत्र है उसका क्या होगा, उसको हटाया तो नहीं जा सकता! और उसको स्वीकार करते ही हम 'नॉन-सेक्युलरिस्ट' हो जाते हैं; हम एक ऐसे क्षेत्र की सत्ता में विश्वास करने लगते हैं, जो स्वयं में अनन्त है, फिर भी जिसका ज्ञान होता है, जिसको ग्रहण किया जाता है।

इस शताब्दी का प्रारम्भ इस बात से होता है कि कैसे हम संख्याओं के इस ज्ञान को इस प्रकार समझें कि हमको यह मानने की ज़रूरत न हो कि संख्याओं जैसी कोई चीज़ है। आप जरा सोचिए—दिस सेंचुरी स्टार्ट्स विद ए सेल्फ कन्ट्राडिक्टरी डिमाण्ड ऑन दि इण्टलेक्ट इटसेल्फ। स्वयं बुद्धि के लिए बुद्धि का क्षेत्र समस्या उत्पन्न करता है—एक ऐसी समस्या जो अन्तर्विरोध से भरी हुई है। एक तरफ वह कहती है कि ऐसा ज्ञान है, दूसरी तरफ कहती है कि ऐसा ज्ञान नहीं होना चाहिए। क्यों नहीं होना चाहिए? यहाँ एक आग्रह है। अगर उसको हम वास्तव में एक ज्ञान मानते हैं, उसके विषयों को वास्तव में अगर विषय मानते हैं तो हमारे सामने यह समस्या होती है कि यह जो जगत् है, यह जो हमें इन्द्रियों से ज्ञात होता है, यही मात्र जगत् नहीं है, कुछ और भी है। कुछ और भी है, इसे नकारना, स्वयं बुद्धि के द्वारा उस ज्ञान को नकारना है जो बुद्धि के द्वारा प्राप्त होता है, जिसकी कम से कम ढ़ाई हजार साल की पश्चिमी परम्परा थी।

1910 में रसल ने **प्रिंसपिया मैथामैटिका** लिखी। लिखी तो उससे पहले थी लेकिन 1910 में छपी थी। यह एक बड़ी भारी कोशिश थी कि गणित का ज्ञान स्वतंत्र रूप में गणित का ज्ञान न माना जाये। बुद्धि की इससे बड़ी कोशिश शायद कभी नहीं हुई थी कि बुद्धि यह कहे कि मुझे जिस क्षेत्र का ज्ञान होता है और जिस पर मुझे नाज़ है और जिसके सहारे हम सारी दुनिया को समझते हैं वह वास्तव में ज्ञान नहीं है, वह प्रतीति मात्र है; वह वास्तविक ज्ञान नहीं है।

आप सब साहित्य प्रेमी, साहित्य के लोग हैं इसलिए आपको इसमें शायद थोड़ा रस भी आ सकता है कि भाषा क्या चीज़ होती है? भाषा विषय है, पर एक माध्यम भी है। भाषा बिना अर्थ के कुछ नहीं होती। पर भाषा क्या उसी रूप में एक विषय है जिस रूप में टेबिल, कुर्सी और दुनिया की तमाम दूसरी चीजें होती हैं? हमारे यहाँ भाषा पर चिन्तन हुआ है। आरम्भ से हुआ है। गणित पर चिन्तन पश्चिम में हुआ है। दोनों एक तरह से बड़ी अजीब चीज़ें हैं। भाषा स्वयं में कोई चीज़ नहीं है, लेकिन अर्थ क्या है? उस अर्थ का भाषा से सम्बन्ध क्या है? स्वयं अर्थ की सत्ता क्या है? जिस प्रकार संख्याओं की सत्ता की समस्या उत्पन्न होती है उसी प्रकार अर्थ की सत्ता की भी समस्या उत्पन्न होती है। अर्थ ग्रहण कैसे होता है? अर्थ इन्द्रियों से तो ग्रहण नहीं होता? फिर कैसे होता है? अर्थ का संसार कैसे बनता है? अर्थ में सत्-असत् का भेद कैसे करेंगे क्योंकि अर्थ तो सदैव सत् होता है, यद्यपि वो जो कहता है वह असत् हो सकता है। इसी प्रकार शून्य को माने बगैर

संख्याएँ नहीं हो सकतीं। विडम्बना देखिये कि हम जहाँ से चले थे वहाँ मानते थे कि जो इन्द्रियों से ग्रहण होता है वही सच है। पर जब इन दो चीज़ों पर विचार करते हैं तो यह समस्या होती है कि शून्य क्या है और उस अर्थ का अर्थ क्या है जो यह कहता है कि 'यह नहीं है'। क्योंकि अगर हम कह रहे हैं कि यह नहीं है और यह वाक्य सत्य है तो इसका कोई विषय होना चाहिए वरना वह सत्य कैसे होगा? ये दो समस्याएँ पिछले सौ सालों के इतिहास में बुद्धि के केन्द्र में रही हैं।

जब संख्याओं को रसल ने, ह्वाइट हैड ने, तर्कशास्त्र के अंदर अनुदित किया कि वास्तव में संख्याओं को हम तर्कशास्त्र के अंदर रूपान्तरित कर सकते हैं, तब समस्या का रूप यह हो जाता है कि तर्कशास्त्र का विषय क्या है और उसकी सत्ता क्या है। और क्योंकि तर्कशास्त्र वाक्यों के आपसी सम्बन्धों से सम्बन्धित होता है और वाक्य भाषा के अनिवार्य अंग होते हैं, इसलिए समस्या केवल भाषा की ही रह जाती है। भाषा कम से कम उस रूप में विषय नहीं है जिस रूप में संख्या दिखती है। भाषा का सत्य वह सत्य नहीं है जो संख्या का सत्य है। तब समस्या बदल जाती है और भाषा पर आकर केन्द्रित हो जाती है। दूसरी तरफ दो बड़ी कोशिशें थीं जिनकी ओर इशारा करना ज़रूरी है। एक कोशिश यह सिद्ध करने की थी कि गणित के ज्ञान में कोई भी अन्तर्विरोध नहीं है। जो भी कोई शुद्ध बुद्धि की बात करता है वह यह मानता है कि अगर कोई आदमी यह सिद्ध कर दे कि आप जो कह रहे हैं उसमें अन्तर्विरोध है तो वह बात सत्य नहीं हो सकती। तो उस ज़माने के सबसे बड़े गणितज्ञ हिल्बर्ट ने यह कोशिश की कि हम यह सिद्ध कर दें कि वास्तव में जो भी सारे गणित का विस्तार है इसमें मूलभूत रूप में आपस में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। इसका मतलब यह है कि उसकी जो स्थापना है वह ऐसी भित्ति पर हो जायेगी जो असंदिग्ध होगी।

यह कहानी इसलिए ज़रूरी है कि आज जब लोग ड़ेरिड़ा या रोर्टी की बात करते हैं तो उनको यह कहानी पता नहीं होती। और जब तक यह कहानी पता नहीं होगी तब तक आप न ड़ेरिड़ा को समझ सकते हैं न रोर्टी को समझ सकते हैं और न आज के पश्चिम की आस्था को समझ सकते हैं। यह जो हुआ, इस शताब्दी के प्रारम्भ में, जो समस्या इसके सामने उत्पन्न हुई, उसने इस सारी खोज की नींव को हिला दिया। उसके बाद पश्चिम की बौद्धिकता में आस्था बिल्कुल खत्म हो गयी। आप लोग नहीं जानते कि पश्चिम में क्या हुआ है। पश्चिम की बौद्धिकता की जड़ें किस तरह हिली हैं—इसका आपको आभास नहीं है। रसल और ह्वाइटहैड की कम से कम दस साल की कोशिश और उसके बाद की लगातार कोशिशों के बाद लोगों ने हताश होकर यह मान लिया कि यह प्रयत्न असम्भव है। क्यों असम्भव है? क्योंकि गणित का ज्ञान तब तक ज्ञान का रूप नहीं ले सकता जब तक कि वह ऐसी मूल मान्यता न माने जो शुद्ध बुद्धि नहीं दे सकती: जो शुद्ध बुद्धि सत्यापित नहीं कर सकती। वह क्या है? बड़ी सीधी-सीधी चीज़ है। उसको कहते हैं

'एक्ज़ियम ऑव इनफिनिटी'; हमको यह मानना पड़ेगा कि संख्या अनन्त है। परन्तु जो है वह सान्त है लेकिन अनन्त को माने बगैर गणित नहीं बन सकता। और अनन्त है या नहीं, यह शुद्ध बुद्धि नहीं बता सकती, और इन्द्रियाँ भी नहीं बता सकतीं क्योंकि जो है वह तो सब कुछ सीमित है।

दूसरी तरफ 1931 में कुर्ट गोडेल जो कि संसार के सबसे बड़े गणितज्ञों में थे उन्होंने दो परचे लिखे। उन दो परचों ने सारे गणित की नींव को धराशायी कर दिया। जिस तरह रसल ने सिद्ध किया कि यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि सारे गणित का जो विस्तार है, वह एक ऐसी नींव पर निश्चय ही आधारित है जो कोई ऐसी पूर्व मान्यता नहीं रखता जिसका विषय-सत् से कोई सम्बन्ध न हो, अर्थात् जो विषयों की सत्यता के बारे में कोई भी पूर्वापेक्षा नहीं करता, जिसकी सत्यता बुद्धि नहीं बता सकती उसी प्रकार गोडेल ने यह कहा कि यह कभी सिद्ध नहीं किया जा सकता (यानि उसने यह सिद्ध किया कि सिद्ध नहीं किया जा सकता) कि गणित वास्तव में अन्तर्विरोध शून्य है। अब देखिये कि मनुष्य की बुद्धि क्या कहती है : मेरी जो रचना है, उसकी नींव में एक ऐसी मान्यता है जिसको बुद्धि सत्य रूप में नहीं बता सकती, और जो इन्द्रियानुभव के आधार पर कभी भी सत्यापित हो ही नहीं सकता। दूसरी ओर वही बुद्धि यह बताती है कि यह कभी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वह अन्तर्विरोधों से मुक्त है। ये दो खोजें अब नयी दिशाएँ लेती हैं।

दूसरा आयाम इसी काल में विज्ञान के क्षेत्र में उत्पन्न हुआ था; ऐसा क्षेत्र जहाँ शुद्ध बुद्धि और अनुभव का एक मिश्रण होता है। वह अजीब मिश्रण है। जो लोग विज्ञान को नकारते हैं वे यह भूलते हैं कि विज्ञान में इन्द्रियानुभव, कल्पना और शुद्ध बुद्धि से उत्पन्न तर्क और गणित इन तीनों का ऐसा मेल है जैसा संसार में आज तक कभी नहीं हुआ। विज्ञान की जो चमत्कारिक प्रगति है, पिछले सौ से अधिक साल में, वह इस नींव पर आधारित है। उन्होंने ऐसी विधि का पता लगाया जिसमें कल्पना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज विज्ञान में साहित्य से भी अधिक कल्पना का अंश है : आप 'साइंस फिक्शन' पढ़िये। वह ऐसी-ऐसी बातें कहता है जो समझ में नहीं आतीं। 1905 में आइन्सटाइन का पहला पेपर निकलता है रिलेटिविटी के बारे में। और उसके कम से कम दस या पन्द्रह साल बाद उसका दूसरा पेपर निकलता है **जनरल थ्योरी ऑव रिलेटिविटी**। हम लोगों को आज पश्चिम का विरोध करने की भी आदत बन गयी है लेकिन जरा पश्चिम को समझिये तो सही। गति, देश और काल का जो सम्बन्ध आइन्सटाइन ने स्थापित किया वह वास्तव में मनुष्य के इतिहास में ऐसी घटना थी जो आज तक पूर्ण रूप से मनुष्य के समझ में नहीं आयी है। 'जनरल थ्योरी' के बारे में तो आज भी कहा जाता है कि उसको बड़े-बड़े वैज्ञानिक नहीं समझते। अगर आइन्सटाइन ने एक नयी बात पता की कि देश और काल को समझने के लिए इनको गति से

सम्बन्धित करना होगा और गति की चरमसीमा है और इनमें सापेक्षता है तो देश और काल की अनन्तता का क्या होता है? क्योंकि देश काल स्वयं गति-सापेक्ष हैं और गति स्वयं सीमित है, एक हद के आगे वह नहीं बढ़ सकती। यही नहीं उसने एक बात और कही कि वास्तव में जो द्रव्य और ऊर्जा है, जो जड़ जगत् है और जो शक्ति है वे वास्तव में एक-दूसरे में रूपान्तरित किये जा सकते हैं। उनका रूपान्तरण ही नहीं किया जा सकता बल्कि उस रूपान्तरण का एक फार्मूला बताया जा सकता है। बड़ा मशहूर फार्मूला है : $E=mc^2$ जिसके आधार पर एटम बम बना है। उसके बाद 31 की कहानी हाइज़नबर्ग से आरम्भ होती है—**प्रिंसिपल ऑव इनडिटर्मिनेसी** से : जो विद्युत कण—जिनके एक प्रसार से सारा जगत् बना है—उनके बारे में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे किस विशिष्ट स्थान पर हैं और उनकी गति क्या है। हम केवल एक का ही निर्धारण कर सकते हैं। अगर यह जानना चाहते हैं कि वह किस देश में स्थित है तो उस समय उसकी गति का पता लगाना असम्भव है। दूसरी ओर यदि हम उसकी गति के बारे में निश्चित रूप से जानना चाहते हैं तो यह जानना असम्भव है कि वह उस समय किस विशिष्ट देश में है। जो अणु हैं उनमें क्या होता है, उनके बारे में एक निश्चितता नहीं हो सकती।...यह सब बाद की कहानी है। 1930 तक एक ऐसी अवस्था उत्पन्न हो चुकी थी जहाँ बुद्धि ने स्वयं अपने सामने ऐसे प्रश्न उपस्थित कर दिये थे जिससे बुद्धि में उस प्रकार का विश्वास सम्भव नहीं रह गया था जैसे पहले था।

अब जरा थोड़ा पलटिये। उसी बुद्धि में आस्था ने मार्क्स को पैदा किया था। उसके पहले हेगेल हो चुका था। हेगेल ने शुद्ध बुद्धि के द्वारा सारे इतिहास को समझने की चेष्टा की थी। अब हम जड़ जगत् की बात नहीं कर रहे हैं, संख्याओं की बात नहीं कर रहे हैं, अब हम इतिहास की बात कर रहे हैं, मानव की बात कर रहे हैं। पहले हेगेल ने और बाद में मार्क्स ने शुद्ध बुद्धि के द्वारा इस बात को पकड़ने की कोशिश की कि इतिहास के अन्दर क्रम क्या है, उसकी गति क्या है, उसके नियम क्या हैं; और इसी के साथ शुद्ध बुद्धि अगर आदर्श उपस्थित करती है, पुरुषार्थ उपस्थित करती है, तो मानव का पुरुषार्थ क्या है। मानव के पुरुषार्थ को पहली बार इतिहास से जोड़ा गया। पश्चिम में ईसाईयत ने पहले ऐसा कुछ किया था लेकिन वह मनुष्य का पुरुषार्थ नहीं था, उसमें कई नयी दैवी शक्तियाँ थीं। पर यहाँ तो मनुष्य स्वयं अपने पुरुषार्थ को इतिहास से जोड़कर इतिहास के क्रम को जानकर एक ऐसे समाज की रचना कर सकता है जो आदर्श समाज हो। यह कहानी 1917 के बाद शुरू होती है रूस में। क्रान्ति के बाद रूस में जो कुछ हुआ वह शुद्ध बुद्धि का बाहर का खेल है। उसकी नींव में शुद्ध बुद्धि की बात है।

उसी शुद्ध बुद्धि का एक दूसरा रूप भी था : नात्सीवाद। नात्सीवाद को आप शुद्ध बुद्धि का रूप कहेंगे या नहीं?—यह समस्या उत्पन्न हो सकती है। कुछ लोग

कहते हैं कि नहीं वह उसका उल्टा था। वह बौद्धिकता नहीं थी, वह कुछ और था। आज लोग होलोकॉस्ट की बात करते हैं और कहते हैं कि इतने लाखों लोगों को मार दिया गया क्योंकि वे यहूदी थे और उनके खाल के लैम्पशेड़ बनाये गये, उनकी चर्बी से साबुन बनाया गया; ये इतने जाहिल लोग थे। लेकिन जर्मनी तो जाहिलों का देश नहीं था। वह तो बिथोवन, मोत्सार्ट, बाख का देश था, मार्क्स और हेगेल का देश था। नीत्शे का भी देश था। जर्मनी तो शुद्ध बुद्धि का केन्द्र था जहाँ यह सब हुआ! एक सभा हो रही थी। वहाँ इसकी चर्चा हो रही थी। रामचन्द्र गाँधी वहाँ थे। उन्होंने पूछा : हर रोज लाखों जानवरों को इसलिए मार दिया जाता है कि मनुष्य की क्षुधा शान्त हो और अगर एक लाख आदमी मार दिये जाते हैं तो आपको लगता है कि बुरा हुआ! उन्होंने कहा, शायद यह जो होलोकॉस्ट हुआ है यह आपको यही सिखाने के लिए है कि उन जानवरों को कैसा महसूस होता होगा। सारा सभागार स्तब्ध। किसी की हिम्मत नहीं हुई कि कुछ कहे। क्योंकि यह तो आपने एक ऐसी नब्ज़ छू दी है जहाँ पश्चिम का आदमी ही क्या, जो भी माँस खाता है वह एकदम बिलबिला उठता है। कभी शिकागो में जाइये, जहाँ माँस का सबसे बड़ा कारखाना है। कहने का अर्थ यह है कि जानवर में और मनुष्य में भेद क्या है? आप क्यों भेद करते हैं मनुष्य और जानवरों में? अगर जानवर के साथ आप एक प्रकार का व्यवहार ठीक समझते हैं तो वही व्यवहार मनुष्य के साथ क्यों गलत मानते हैं। हिटलर उनको मनुष्य नहीं मानता था। उसने कहा था कि ये लोग मनुष्य नहीं हैं। आपकी परिभाषा में वे मनुष्य हो सकते हैं, उसकी परिभाषा में मनुष्य नहीं थे। जिस प्रकार मार्क्स की परिभाषा में प्रत्येक मनुष्य मनुष्य नहीं होता। जब तक आप प्रॉलिटरेट क्लास के नहीं हैं तब तक आप मनुष्य नहीं हैं, बुर्जुआ हैं। बुर्जुआ एक गाली है। कॉडवेल ने किताब लिखी थी **स्टडीज़ इन ए डाइंग कल्चर** उसके हर पन्ने पर यह गाली है: बुर्जुआ। मनुष्यों के बीच में यह भेद भेद ही है—चाहे वह किसी आधार पर हो, वर्ग, रूप, रंग, किसी भी आधार पर। वे मानते हैं कि कुछ लोग मनुष्य नहीं हैं। और इसका जीता-जागता उदाहरण केवल नात्सी जर्मनी में ही नहीं मिलता, आपको कम्युनिस्ट शासन में भी मिलता है जहाँ लाखों लोगों की हत्या कर दी गयी, क्योंकि वे वर्ग विशेष में नहीं थे, उसके विरोधी थे। इससे भी ज़्यादा कम्बोड़िया में हुआ। यह भी उस शताब्दी का इतिहास है जिसका अन्त आज आप देख रहे हैं।

अब थोड़ा देखिये, मनुष्य को देखने की दृष्टियों की ओर। जिन चित्रकारों की आप तारीफ करते हैं—जैसे पिकासो, जिनको आप क्यूबिस्ट कहते हैं—वे मनुष्य को कैसे देखते हैं? सिलिण्डर की तरह है, सर्किल है, क्यूब है। संसार में मनुष्यों का इतना निरादर कभी भी हुआ है! जिस मनुष्य के बारे में कहा गया था कि वह वास्तव में अमृत का पुत्र है उसको आज इस दृष्टि से देखा जा रहा है। यह भी वही बुद्धि कह रही है कि शुद्ध विषय रूप में देखो। शुद्ध विषय रूप में देखने

का अर्थ क्या होता है? यह भी पश्चिम के इतिहास की कथा है। उसी इतिहास की कथा जिसमें पहले यह कहा गया कि वास्तव में जगत् में न रूप है, न रस है, न गंध है, न स्पर्श है, ये तो सब हमारी इन्द्रियों से उत्पन्न होते हैं; हमारी इन्द्रियों के व्यापार से हमें यह प्रतीति होती है कि नीला है, पीला है पर वास्तव में तो वे प्रकाश की तरंगें हैं, उन तरंगों के भेद हैं, वे सब भेद परिमाण के भेद हैं। तो जो कुछ है वह या तो संख्या है या आकार मात्र है। मनुष्य के बारे में आपको क्यूबिस्ट आर्ट यह बताता है और आप उसकी वाहवाही करते हैं कि यह मनुष्य शुद्ध विषय रूप है। क्योंकि जब तक वह विषय रूप नहीं होगा तब तक वह विज्ञान का विषय नहीं बन सकता, जाना नहीं जा सकता। और जाना कैसे जायेगा? उन्हीं कोटियों में जाना जायेगा जिन कोटियों में आप जड़ जगत् को जानते हैं। बुद्धि में आस्था का तीसरा पक्ष है कि सारा संसार, चाहे वह मनुष्य का हो, चाहे मनुष्य की रचनाओं का हो, उसको विषय रूप बनाकर परिमाणात्मक रूप में, संख्या के क्षेत्र में लाकर ही समझा जा सकता है; कार्य कारण रूप में। हम उस पर काबू तभी पा सकते हैं जब हम उन कारणों का पता लगायें जिनसे वह उत्पन्न होता है और फिर उन कारणों को उत्पन्न करें। इसकी भी एक लम्बी कहानी इस शताब्दी की कहानी है। लेकिन वास्तव में यह कहानी संस्कृति के उस अन्तराल की, उसके पतन की कहानी है। संस्कृतियों और सभ्यताओं का पतन किसी एक शताब्दी में नहीं होता। उसमें बहुत समय लगता है। जब कोई इतिहासकार मुड़कर देखता है तो उसे पता चलता है कि यह तो बहुत पहले आरम्भ हो गया था।

अब देखिये कि चक्र और किस ओर घूमता है। अब तक बुद्धि सत्य को खोजती थी, यह मानती थी कि कोई सत्य है, लेकिन आज जो रॉर्टी और ड़ेरिड़ा में मिलता है वह वास्तव में उस मोड़ की कहानी है जहाँ बुद्धि थक चुकी है, जहाँ अपने आप में उसका विश्वास खत्म हो चुका होता है और तब वह कहती है कि चूँकि सत्य तो जाना ही नहीं जा सकता, सत्य का अर्थ ही कुछ नहीं होता इसीलिए वास्तव में किसी भी विषय पर बैठकर बात करने का कोई आधार ही नहीं है। रॉर्टी और ड़ेरिड़ा बहस नहीं करते। आप लोग उन पर मोहित हैं। वे बहुत अच्छा लिखते हैं, लेकिन उन्होंने बुद्धि को शुरुआत में ही नकार दिया है लेकिन अगर कोई कुछ कह रहा है और उसमें अगर कोई अन्तर्विरोध है, और अगर वह ज्ञान के क्षेत्र की बात है तो साधारणत: वह बात गलत मानी जाएगी। अगर कोई खण्डन करेगा तो आपको जवाब देना पड़ेगा, आपको यह बताना पड़ेगा कि उसने जो दोष बताया है वह दोष क्यों नहीं है। इन दोनों के अलावा भी बहुत सारे लोग हैं—इनके चेले-चाँटे। वे तमाम इस बात के लिए तैयार ही नहीं हैं कि बहस करें क्योंकि वे यह निश्चय कर चुके हैं कि बहस से कुछ नहीं मिल सकता। रॉर्टी तो साफ कहते हैं कि आप मानिये, न मानिये, असली बात तो यह है कि शक्ति हमारी (यानी पाश्चात्य जगत् की) है और इतिहास बता चुका है कि हम जो कहते हैं वही ठीक है, इससे ज्यादा ठीक कुछ मिल नहीं सकता।

लेकिन इसके पीछे एक और कथा है। विज्ञान के बारे में भी आप लोगों की जो मान्यता है वह बहुत पुरानी है। आज का वैज्ञानिक यह नहीं मानता कि वह किसी सत्य की खोज कर रहा है। विज्ञान का एक बड़ा प्रसिद्ध दार्शनिक है, लकाटोस; उसका बहुत असर हुआ है, उसके पहले विज्ञान के किसी विषय के संदर्भ में दो वैज्ञानिकों की परिकल्पनाओं के बीच चुनाव का आधार इस बात पर निर्भर करता था कि वह परिकल्पना असत्य है या सत्य है। मैं इस लम्बी कथा में नहीं जाना चाहता लेकिन इसके बारे में दो बातें सिद्ध हो चुकी हैं। पहली, जो पॉपर के नाम से प्रसिद्ध है,यह है कि यह कहना कि आप किसी प्राक्कल्पना को सत्यापित कर सकते हैं, गलत है। आप यह बता सकते हैं कि वह गलत है पर यह नहीं कह सकते है कि वह सत्य है। बाद में यह हुआ कि आप यह भी नहीं कह सकते। (वास्तव में बीसवीं शताब्दी की कहानी इसकी चर्चा किये बिना हो ही नहीं सकती) तब फिर क्या होता है? आप जरा टर्न देखिये, जरा मज़ा लीजिए—शोखिए-तहस्रीर का। लकाटोस कहता है कि दो प्राक्कल्पनाओं में से चयन उसका करना चाहिए जिस पर ज्यादा रिसर्च हो सके, जिससे रिसर्च प्रोग्राम ज्यादा उत्पन्न हो सकें। यानी वैज्ञानिक इसलिए चयन नहीं करता कि वह किसी बात को सत्य साबित करेगा या किसी बात को झूठ साबित करेगा, बल्कि इसलिए कि इससे और रिसर्च कितनी हो सकती है और रिसर्च प्रोग्राम कितना बन सकता है। और इसका ताजा संस्करण यह है कि किस प्राक्कल्पना पर कितना पैसा खर्च होगा, सरकार से आप कितना पैसा माँग सकते हो—यह शोध के चयन का आधार है। आपको आश्चर्य होगा कि वैज्ञानिक अनुसंधान की दिशाएँ (अपने यहाँ भी) आज इस बात से निर्धारित होती हैं कि उसके लिए कितना पैसा मिल सकता है रिसर्च के लिए। बुद्धि का, ज्ञान के पुरुषार्थ का, इससे ज़्यादा करप्शन नहीं हो सकता! यह आज की स्थिति है।

मनुष्य के बारे में ऐसा कहा गया है कि जो देखने में बड़ा बौद्धिक प्राणी होता है उसका अवचेतन मन बड़ा भाव-केन्द्रित अथवा भावुक होता है और जो देखने में बड़ा भावुक होता है, वास्तव में उसका अवचेतन मन उतना भावुक नहीं होता। यह बात ठीक हो या न हो पर संस्कृति-सभ्यता के बारे में भी ऐसा लगता है। जहाँ एक ओर बौद्धिक आस्था केन्द्र बिन्दु है, शुद्ध बुद्धि का विस्तार है, वहीं दूसरी ओर शुद्ध भावुक भी है। अगर एक तरफ पिकासो है तो दूसरी तरफ शागाल है। (आप शागाल के चित्र देखिये और पिकासो के; दोनों को बार-बार देखिये, तब आपको पता लगेगा कि क्या हो रहा है।) अगर एक तरफ मार्क्स है, वेबर है, तो दूसरी तरफ फ्रायड है जो **फ्यूचर ऑफ स्न इल्यूज़न** लिखता है। तो पश्चिम की सभ्यता में स्वयं में अन्तर्विरोध है।

लेकिन आज स्थिति क्या है इस शताब्दी के अन्त में? यहाँ आकर दोनों धाराएँ मिल गयी हैं। शुद्ध बुद्धि ने अपने में आस्था खो दी है, क्योंकि सत्य की

खोज समाप्त हो गयी है, केवल शक्ति की साधना है, अर्थ की साधना है, काम की साधना है। आज वही ज्ञान 'ज्ञान' है जिससे आप धन कमा सकते हैं, शक्ति उपार्जन कर सकते हैं, बम बना सकते हैं या इस प्रकार की चीज़ें बना सकते हैं...। आर्म्स इण्डस्ट्री अपना सामान कैसे बेचती है? सिर्फ बोफोर्स की बात नहीं है, सारे संसार में जो आज आतंकवाद फैल रहा है वह कैसे हो रहा है, उनके पास ये सारी चीज़ें कहाँ से आ रही हैं, कैसे बिकती हैं? इसके पीछे एक बड़ा भारी तंत्र है जो केवल यह मानता है कि वही ज्ञान ज्ञान है जो इनको बेच सकता है। अब तो यह सब हमारे देश में भी होने वाला है। हमारे यहाँ भी लोग बहुत शान से कहते हैं हमारी लड़की, हमारा लड़का एम.बी.ए. कर रहा है! अरे, यह कोई पढ़ने की चीज़ है! आप बताइये, बिड़ला जी इतने बड़े व्यापारी थे, उनको कोई बौद्धिक मानता था! लेकिन आजकल इंजीनियरी करने के बाद लड़का एम.बी.ए. करता है और इससे लड़का भी प्रसन्न है और उसके माता-पिता भी प्रसन्न हैं।

गीता का एक बड़ा प्रसिद्ध श्लोक है जिसका मतलब कुछ यह है कि जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है और जिसकी मृत्यु हुई है उसका जन्म निश्चित है। तो ये जो आस्थाएँ हैं—बुद्धि के बारे में या भावना के बारे में या कर्म के बारे में, या काम के, शक्ति के जो पुरुषार्थ हैं—ये चिरन्तन हैं। कभी किसी का विस्तार होता है, कभी कोई केन्द्र बिन्दु बनता है; कभी कोई पीछे हटता है कोई आगे आता है। मैं आपसे अन्त में यह कहना चाहूँगा कि यदि आप संस्कृतियों के इतिहास को समझना चाहते हैं तो आप पश्चिम का मोह छोड़िये। जानिए जरूर, पर जिस तरह से वे अपने को प्रस्तुत करते हैं, उन्हें वैसे मत देखिये। आप यह देखिये कि उसके पीछे क्या हो रहा है। इसी के साथ जो गैर-पश्चिमी संस्कृति और सभ्यताएँ हैं जैसे कि चीन की, उनको भी देखिये; उन्होंने मनुष्य के बारे में, संस्कृति के बारे में, इतिहास के बारे में किस तरह सोचा है और उनका इतिहास क्या रहा है, यह भी देखिये। जितनी चिरन्तनता और परिवर्तन इस देश के बुद्धि, भावना और साधना के आयामों में हुआ है उतना शायद ही कहीं और हुआ है। उसका इतिहास आपको पता नहीं है, आपको विचार की वे कोटियाँ भी पता नहीं हैं जिनसे इस देश ने इन सब क्षेत्रों को पकड़ा है। आपकी संस्कृति से आपको इतनी बड़ी धरोहर मिली है। हमने उसको इन डेढ़ सौ सालों में बिल्कुल भुला दिया और हम किसी ऐसी संस्कृति पर मोहित हैं जिसमें हालांकि बहुत कुछ है लेकिन जिस प्रकार हम मोहित हैं वह हमें उसके असली स्वरूप को समझने में बाधा उत्पन्न करता है। मुझे आश्चर्य होता है कि हमारे यहाँ के अच्छे से अच्छे लड़के और लड़कियाँ जिन चीज़ों पर मोहित हैं उनके असली इतिहास का उनको ज्ञान जरा सा भी नहीं है—उस इतिहास का जिसकी ओर मैंने संकेत किया है। उनको तो अपने देश के बौद्धिक इतिहास के बारे में भी वास्तव में ज्ञान नहीं है, लेकिन इस अज्ञान के बावजूद भी उनमें दम्भ इतना है कि जैसे वह जो कुछ कहते हैं वही वास्तव में

ठीक है। एरोगेन्स ऑव इग्नोरेंस इज अनबिलीवेबॅल। संसार में ऐसा कभी हुआ ही नहीं है कि आपको पता भी नहीं है और आप एरोगेण्ट हैं।

पश्चिम में एक जीवन्त शक्ति है। आप अगर उसके बारे में खुले मन से सोचेंगे तो आप पश्चिम को भी नये रूप में समझेंगे, अपने को भी नये सिरे से समझेंगे और जिस 'आरम्भ' की बात हम करना चाहते हैं वह कुछ नये प्रकार का हो सकेगा। कम से कम वह अंधा नहीं होगा। आज हम कितने अंधे होते जा रहे हैं! रोज़ अखबार में पढ़ते हैं कि दिल्ली में पानी और हवा जीवन के लिए हानिकारक हैं। हमें इन सबके कारण भी पता हैं। लेकिन हम सोचते हैं कि विकास का अर्थ यही है कि गाड़ियाँ कितनी हैं। विकास का मतलब ही यही है कि धुआँ कितना है। आप तो भोपाल में रहते हैं जहाँ ट्रेजिडी हुई थी। लेकिन वास्तव में आज यह विकास का लक्षण माना जाता है। कौन यह कहेगा कि यह विकास नहीं है! अगर आपकी सड़कों पर अधिक मोटरें चलती हैं तो यही कहा जायेगा कि विकास हो रहा है। आपके प्रदेश में कितने विश्वविद्यालय हैं, यह विकास का लक्षण है, जबकि सबको पता है कि वहाँ पढ़ाई नहीं होती। एक तरफ आप कहते हैं कि पढ़ाई नहीं होती, कि लड़के को लिखना नहीं आता, दूसरी तरफ कहते हैं विकास हो रहा है। इसी के आधार पर तो आँकड़े बनते हैं। ये आँकड़े उन चीजों के हैं जिनको पश्चिम ने विकास का मापदण्ड माना है। उन मापदण्डों पर हम अपने को तौलते हैं। यदि वे मापदण्ड हम नहीं स्वीकारें तब क्या होगा? हमने अपने मापदण्ड तो नहीं बनाये! क्या पश्चिम के बारे में, पश्चिमी सभ्यता के बारे में, ज्ञान के बारे में हमारे अपने मापदण्ड हैं।

आरम्भ थोड़ा खुला होता है; कम से कम भ्रम जरूर होता है कि वह खुला है। और उसमें हमें थोड़ा चयन का अधिकार होता है, कल्पना का अधिकार होता है, पुरुषार्थ का अधिकार होता है। इसीलिए कम से कम जो अपने प्रारम्भ में है, उसके बारे में, हम कुछ नये सिरे से सोच सकते हैं। हम अपने अनुभूत सत्य को ईमानदारी से कहें कि यह विकास नहीं है, विकास कुछ और है। इस आरम्भ में हम विचार, अनुभूति, साधना, धर्म आदि के क्षेत्र में, अपनी पुरानी विरासत को लेकर आगे बढ़ें तो मैं समझता हूँ कि शायद कुछ नया हो सकता है। ऐसा नहीं है कि इस देश में कुछ हुआ नहीं है। पुराने लोगों की बात करने से ज्यादा फायदा नहीं है लेकिन जिस शताब्दी ने आपको गाँधी, अरविन्द जैसे लोग दिये हैं, बिनोवा जैसे लोग दिये हैं उसी शताब्दी का अन्त एक महापुरुष से हो रहा है—अठवले पाण्डुरंग शास्त्री। जरा उनका 'स्वाध्याय आन्दोलन' देखिये! जिस व्यक्ति ने लाखों लोगों के जीवन में परिवर्तन कर दिया उसके कार्य को विकास नहीं माना जाता, वह प्लानिंग कमीशन में नहीं है! यह क्या हो रहा है अपने देश में! लेकिन उसने एक नयी दिशा दी है और इसी से यह आश्वासन होता है कि, जो आरम्भ हो रहा है, वह पूर्ण रूप से अंधकारमय नहीं है।

❑

भारतीय संस्कृति, दर्शन और पुरुषार्थ-चिंतन

वेदान्त का नाम भारतीय संस्कृति और दर्शन से इतना गहरा जुड़ा हुआ है कि बहुत लोगों की राय में वे करीब-करीब एक ही हैं। पर जिन लोगों को दर्शन के इतिहास का जरा सा भी पता है उन्हें यह मालूम है, या होना चाहिये, कि 'वेदान्त' नाम से पुकारा जाने वाला कोई विशिष्ट दार्शनिक सम्प्रदाय कम से कम आठवीं शताब्दी तक इस रूप में नहीं जाना जाता था। हरिभद्र सूरी ने अपने ग्रंथ षडदर्शनसमुच्चय में 'वेदान्त' की चर्चा स्वतंत्र दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में नहीं की है, और न ही उन्होंने इसके किसी विशिष्ट ग्रंथ या आचार्य की बात कही है। उन्होंने तो इसे मीमांसा का अंग माना था, और 'उत्तर मीमांसा' कहकर ही प्रस्तुत किया है। यह चर्चा उन्होंने मीमांसा की ही की थी, और उसे 'जैमिनीय' कहा है और उसके संदर्भ में कुमारिल और प्रभाकर के मतों की चर्चा की है। 'उत्तरमीमांसा' को उन्होंने 'वेदान्त' जरूर कहा है, लेकिन इस संदर्भ में न ब्रह्मसूत्र की बात की है और न बादरायण की। यही नहीं, उन्होंने कहीं भी 'अद्वैत' का नाम नहीं लिया है, और इससे पता चलता है कि अद्वैत शब्द का प्रचलन आचार्य शंकर के बाद ही शायद शुरू हुआ होगा। इसके अलावा हरिभ्रद्र सूरी के वर्णन से ऐसा लगता है कि उस समय यह प्रधानतः साधना-केन्द्रित सन्यासियों में प्रचलित था, क्योंकि वे चार तरह के वेदान्ती सन्यासियों की बात करते हैं, जिनके नाम 'कुटीचर', 'बहूदक', 'हंस' और 'परमहंस' थे। इनमें से पहले दो, शिखा और ब्रह्मसूत्र रखते थे। और दूसरे दो उनका भी त्याग कर देते थे। ब्रह्मसूत्र का अर्थ यहाँ कुछ ऐसी चीज़ से है जो जनेऊ या यज्ञोपवीत की तरह पहना जाता था, जिसको 'हंस' व 'परमहंस' छोड़ देते थे। परमहंस सन्यासियों के बारे में लिखा है कि वे शूद्रों के घर भी भोजन कर लेते थे।

इन सब से ऐसा लगता है कि सन्यास की परम्परा वेदान्त सम्प्रदाय में शंकर से पहले थी, और ऐसा मानना कि शंकर ने ही दशनामी सन्यासियों को संगबद्ध किया पूर्ण रूप से ठीक नहीं लगता। शायद शंकर के पहले वेदान्ती सन्यासी